वार्षिक रु. ५० मूल्य रु. ८.००
विवेक-ज्योति
वर्ष ४५ अंक १ जनवरी २००७
रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर (छ.ग.)

मंगल कामना

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखःभाग्भवेत्॥

सब सुखी हों।

सब रोगरहित हों।

सब कल्याण का साक्षात्कार करें।

दुःख का अंश किसी को भी प्राप्त न हो।

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

जनवरी २००७

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४५
अंक १

वार्षिक ५०/- **एक प्रति ८/-**

५ वर्षों के लिए – रु. २२५/-
आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/-
विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर
(हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

{सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम से बनवायें}

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५
०७७१ - २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

विवेक-ज्योति के प्रचार हेतु अनुरोध

प्रिय मित्र,

युगावतार श्रीरामकृष्ण तथा आचार्य स्वामी विवेकानन्द के आविर्भाव से विश्व-इतिहास के एक अभिनव युग का सूत्रपात हुआ है। इसके फलस्वरूप पिछली एक शताब्दी के दौरान भारतीय जन-जीवन की प्रत्येक विधा में एक नव-जीवन का संचार हुआ दीख पड़ता है। राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, ईसा, मुहम्मद, शंकराचार्य, चैतन्य, नानक तथा रामकृष्ण-विवेकानन्द - आदि कालजयी विभूतियों के जीवन तथा कार्य अल्पकालिक होते हुए भी, प्रभाव की दृष्टि से चिरस्थायी होते हैं और सहस्रों वर्षों तक कोटि-कोटि लोगों की आस्था, श्रद्धा तथा प्रेरणा के केन्द्र-बिन्दु बनकर विश्व का असीम कल्याण साधित करते हैं। सम्भवतः आपका ध्यान इस ओर गया हो कि उपरोक्त दो विभूतियों से निःसृत भावधारा दिन-पर-दिन उत्तरोत्तर व्यापक होती हुई, न केवल पूरे भारतवर्ष, अपितु सम्पूर्ण विश्ववासियों के बीच पारस्परिक सद्भाव को अनुप्राणित कर रही है।

भारत की सनातन वैदिक परम्परा, मध्यकालीन हिन्दू संस्कृति तथा श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द के सर्वग्राही तथा उदार सन्देश का प्रचार-प्रसार करने के निमित्त स्वामीजी के जन्मशताब्दी वर्ष १९६३ ई. से इस पत्रिका को त्रैमासिक रूप में आरम्भ किया गया था। तब से ३६ वर्षों की सुदीर्घ अवधि तक उसी रूप में और पिछले ८ वर्षों से मासिक के रूप में अबाध गति से प्रज्वलित रहकर यह 'ज्योति' भारत के कोने-कोने में बिखरे अपने सहस्रों प्रेमियों का हृदय आलोकित करती रही है।

आज के संक्रमण-काल में, जब असहिष्णुता तथा कट्टरतावाद की आसुरी शक्तियाँ सुरसा के समान अपने मुख फैलाए पूरी विश्व-सभ्यता को निगल जाने के लिए आतुर हैं, इस 'युगधर्म' के प्रचार रूपी पुण्यकार्य में सहयोगी होकर इसे घर-घर पहुँचाने में क्या आप भी हमारा हाथ नहीं बटायेंगे? आपसे हमारा हार्दिक अनुरोध है कि कम-से-कम पाँच नये सदस्यों को 'विवेक-ज्योति' परिवार में सम्मिलित कराने का संकल्प आप अवश्य लें। इसका वार्षिक शुल्क अत्यल्प - मात्र रु. ५०/- ; ५ वर्षों के लिए रु. २२५/- और आजीवन (२५ वर्षों के लिए) रु. १२००/- मात्र है। अपने मित्रों, परिचितों, प्रियजनों तथा सम्बन्धियों से इस वर्ष के लिए सदस्यता-शुल्क एकत्र करके या अपनी ओर से उपहार के रूप में उनके पतों के साथ हमें अवश्य भेज दें।

— व्यवस्थापक, 'विवेक-ज्योति' मासिक
रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर - ४९२ ००१ (छ.ग.)

प्रकाशन विषयक विवरण

(फार्म ४ नियम ८ के अनुसार)

१. प्रकाशन का स्थान - रायपुर
२. प्रकाशन की नियतकालिकता - मासिक
३-४. मुद्रक एवं प्रकाशक - स्वामी सत्यरूपानन्द
५. सम्पादक - स्वामी विदेहात्मानन्द
राष्ट्रीयता - भारतीय
पता - रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर
स्वत्वाधिकारी - रामकृष्ण मिशन, बेलूड़ मठ के ट्रस्टीगण -

स्वामी गहनानन्द, स्वामी आत्मस्थानन्द, स्वामी गीतानन्द, स्वामी स्मरणानन्द, स्वामी शिवमयानन्द, स्वामी भजनानन्द, स्वामी सुहितानन्द, स्वामी प्रमेयानन्द, स्वामी श्रीकरानन्द, स्वामी वन्दनानन्द, स्वामी प्रभानन्द, स्वामी गौतमानन्द, स्वामी मुमुक्षानन्द, स्वामी वागीशानन्द, स्वामी तत्त्वबोधानन्द, स्वामी आत्मारामानन्द, स्वामी गिरीशानन्द, स्वामी दिव्यानन्द, स्वामी सुवीरानन्द, स्वामी बोधसारानन्द।

मैं स्वामी सत्यरूपानन्द घोषित करता हूँ कि ऊपर दिये गये विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सत्य हैं।

(हस्ताक्षर)
स्वामी सत्यरूपानन्द

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव **स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर** से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट – **'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़)** के नाम से बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना नाम, पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नं. आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक रहने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रुपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमें मत भेजें।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

वैराग्य-शतकम्

किं वेदैः स्मृतिभिः पुराणपठनैः शास्त्रैर्महाविस्तरैः
स्वर्गग्रामकुटीनिवासफलदैः कर्मक्रियाविभ्रमैः ।
मुक्त्वैकं भवदुःखभाररचनाविध्वंसकालानलं
स्वात्मानन्दपदप्रवेशकलनं शेषैर्वणिग्वृत्तिभिः ।।७१।।

अन्वय – वेदैः स्मृतिभिः पुराण-पठनैः महाविस्तरैः शास्त्रैः किम्? स्वर्ग-ग्राम-कुटी-निवास-फलदैः कर्म-क्रिया-विभ्रमैः भव-दुःख-भार-रचना-विध्वंस-काल-अनलम् एकम् स्व-आत्मा-आनन्द-पद-प्रवेश-कलनं मुक्त्वा शेषैः वणिग्-वृत्तिभिः?

अर्थ – वेदों, स्मृतियों, पुराणों तथा अन्य महा-विस्तृत शास्त्रों के अध्ययन से क्या लाभ? स्वर्ग में विश्राम-कुटीर-रूपी फल देनेवाले विभिन्न कर्मकाण्डों से क्या लाभ? जैसे कालाग्नि सब कुछ का ग्रास कर लेती है, वैसे ही आत्मज्ञान के द्वारा संसार के सारे दुःखों का नाश हो जाता है, अतः जिस उद्यम के द्वारा अपने आत्मा के आनन्द की अवस्था में प्रवेश किया जाय, वही सार्थक है, अन्यथा बाकी सब कुछ व्यापार वृत्ति मात्र है।

यतो मेरुः श्रीमान्निपतति युगान्ताग्निवलितः
समुद्राः शुष्यन्ति प्रचुरमकरग्राहनिलयाः ।
धरा गच्छत्यन्तं धरणिधरपादैरपि धृता
शरीरे का वार्ता करिकलभकर्णाग्रचपले ।।७२।।

अन्वय – यतः युग-अन्त-अग्नि-वलितः श्रीमान् मेरुः निपतति प्रचुर-मकर-ग्राह-निलयाः समुद्राः शुष्यन्ति धरणि-धर-पादैः धृता अपि धरा अन्तं गच्छति; करि-कलभ-कर्ण-अग्र-चपले शरीरे का वार्ता ?

अर्थ – जब युग के अन्त में अतुल समृद्धि से युक्त सुमेरु पर्वत भी ध्वंश को प्राप्त हो जाता है, जब असंख्य मगरों तथा ग्राहों से युक्त समुद्र भी सूख जाते हैं, जब पर्वत-श्रेणियों के द्वारा दृढ़तापूर्वक धारण की हुई पृथ्वी भी नष्ट हो जाती है, तो फिर हाथी के बच्चे के कानों के अग्र भाग के समान सर्वदा चंचल इस शरीर की तो बात ही क्या है?

– भर्तृहरि

विवेकानन्द-वन्दना

– १ –

(यमन–रूपक)

स्वामी विवेकानन्द तुम, माँ के सपूत महान् हो,
दुनिया में भारतवर्ष के, उन्नत प्रबुद्ध निशान हो ।।

जब देश की थी दुर्दशा, आकर दिया सच्ची दिशा,
इस देश के उद्धार को, भगवान के वरदान हो ।।

इस देश की पीढ़ी नई, जड़वाद से है थक गई,
पर अब तुम्हें है पा लिया, आदर्श तुम बलवान हो ।।

जिसको मिली तव प्रेरणा, जागी उसी में चेतना,
अब तो हमारी कामना, निशदिन तुम्हारा ध्यान हो ।।

दुनिया स्वयं से त्रस्त है, शोषण-व्यथा से ग्रस्त है ।
सुख-शान्त के साम्राज्य को, इस देश के अवदान हो ।।

– २ –

(अहीर-भैरव या केदार–कहरवा)

स्वामीजी आए हैं करने, भारत का उद्धार ।
सारी दुनिया मुग्ध-चकित है, पाकर उनका प्यार ।।

द्वेष मिटाया जाति-वर्ग का, पथ दिखलाया चतुर्वर्ग का ।
पूरब-पश्चिम के जन सारे, अब अखण्ड परिवार ।।

उपनिषदों का दे सन्देशा, दूर किया सारा अन्देशा ।
निशदिन ही सबकी नैया को, करने सागर पार ।।

जग में फिर सत्युग आएगा, सुख सर्वत्र पुनः छाएगा ।
उनके भावों पर ही चलकर, सुधरेगा संसार ।।

सारा जग पद-वन्दन करता, अवनत-सिर अभिनन्दन करता ।
अब 'विदेह' के भी स्वीकारो, शब्दों का उपहार ।।

– *विदेह*

इतिहास और प्रगति (१)

स्वामी विवेकानन्द

अद्वैत आश्रम, मायावती द्वारा प्रकाशित State Society and Socialism नामक संकलन में प्रश्नोत्तर के रूप में स्वामीजी के विचारों का संयोजन किया गया है। प्रस्तुत है उसी पुस्तक के महत्वपूर्ण अंशों का हिन्दी रूपान्तरण। – सं.)

प्रश्न – इतिहास का क्या महत्त्व है?

उत्तर – जड़ में अधिकाधिक चैतन्य का दर्शन – यही है सभ्यता का इतिहास।[५०]

जो कुछ भी प्रकृति के विरुद्ध संघर्ष करता है, वही चेतन है। उसी में चैतन्य का विकास है। यदि एक चींटी को मारने जाओ, तो देखोगे कि वह भी अपनी जीवन-रक्षा के लिये संघर्ष करेगी। जहाँ चेष्टा या पुरुषार्थ है, जहाँ संग्राम है, वही जीवन का चिह्न है और वही चैतन्य की अभिव्यक्ति है।[५१]

पूरे प्रकृति में दो शक्तियाँ कार्य करती हुई दिखाई देती हैं। इनमें से एक निरन्तर भिन्नता और दूसरी निरन्तर एकता पैदा करती रहती है। एक अधिक-से-अधिक पृथक् व्यष्टियों के निर्माण में लगी है और दूसरी मानो व्यष्टियों को जोड़कर एक समष्टि में लाने और इन नाना भेदों को अभेद बनाने में लगी है। लगता है कि इन दोनों शक्तियों का कार्य प्रकृति तथा मानव जीवन के हर क्षेत्र में प्रवेश करता है।

उपनिषदों, बुद्धों और ईसा-मसीहों तथा अन्य महान् धर्माचार्यों के समय से लेकर हमारे वर्तमान काल की नयी राजनीतिक महत्त्वकांक्षाओं में, उत्पीड़ितों तथा पददलितों और विशेषाधिकारों से विहीन व्यक्तियों के दावों में, बस इसी एकता तथा समता की एक आवाज बुलन्द हुई है। परन्तु मानवीय स्वभाव अपने को व्यक्त करती ही है। जिन्हें कोई सुविधा प्राप्त है, वे उसे बनाये रखना चाहते हैं और उन्हें कोई तर्क मिल जाता है – चाहे वह कितना भी एकांगी और भद्दा क्यों न हो – और वे उसी पर डटे रहते हैं। दोनों ही पक्षों पर यह बात लागू होती है।[५२]

प्रश्न – एक समाज का इतिहास कैसे प्रभावित होता है?

उत्तर – मनुष्य-जाति की उन्नति और सभ्यता इस प्रकृति को वशीभूत करने की शक्ति पर ही निर्भर है।

इस प्रकृति को वशीभूत करने के लिये भिन्न-भिन्न जातियाँ भिन्न-भिन्न प्रणालियों का सहारा लेती हैं।[५३]

जिस प्रकार अग्नि एक ही है, परन्तु वह विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होती है, उसी प्रकार एक ही महाशक्ति फ्रांसीसियों में राजनैतिक स्वाधीनता के रूप में, अंग्रेजों में वाणिज्य-विस्तार के रूप में और हिन्दुओं के हृदय में मुक्ति-लाभ की इच्छा के रूप में विकसित हुई है।[५४]

(इसके उपरान्त स्वामीजी धर्म, राष्ट्रीयता, भौगोलिक परिस्थितियाँ, आदर्श पुरुष, व्यावहारिकता आदि विभिन्न शक्तियों का वर्णन करते हैं।)

तुम देखोगे कि यह देश अभी भी जीवित है, धुकधुकी चल रही है, केवल बेहोश हो गयी है। और देखोगे कि इस देश का प्राण धर्म है, भाषा धर्म है तथा भाव धर्म है। तुम्हारी राजनीति, समाज-नीति, रास्ते की सफाई, प्लेग-निवारण, अकाल-पीड़ितों को अन्न-दान आदि इस देश में चिरकाल से जैसे हुआ है, वैसे ही होगा – अर्थात् धर्म के द्वारा होगा तो होगा, अन्यथा नहीं। तुम्हारे रोने चिल्लाने का कुछ भी असर न होगा।[५५]

उत्कट स्वराष्ट्र-प्रेम और परराष्ट्र-विद्वेष देश की उन्नति का एक प्रधान कारण है। इसी स्वराष्ट्र-प्रेम और परराष्ट्र-विद्वेष ने प्रतिद्वन्द्विता की सृष्टि कर ईरान-द्वेषी यूनान को, कार्थेज-द्वेषी रोम को, काफिर-द्वेषी अरब जाति को, मूर-द्वेषी स्पेन को, स्पेन-द्वेषी फ्रांस को, फ्रांस-द्वेषी इंग्लैंड और जर्मनी को तथा इंग्लैंड-द्वेषी अमेरिका को उन्नति के शिखर पर पहुँचा दिया।[५६]

समाज की सृष्टि होने लगी। देश-भेद से ही समाज की सृष्टि हुई। जो लोग समुद्र के तट पर रहते थे, वे अधिकांशत: मछली पकड़कर अपना जीवन-निर्वाह करते थे। जो समतल जमीन पर रहते थे, वे खेती-बारी करते थे; जो पर्वतों पर रहते थे, वे भेड़ चराते थे; जो बालू के मैदानों में रहते थे, वे बकरी और ऊँट चराते थे। कितने ही लोग जंगलों में रहकर शिकार करने लगे। जिन्होंने समतल जमीन पाकर खेती-बारी करना सीखा, वे पेट की ज्वाला से बहुत-कुछ निश्चिन्त होकर विचार करने का अवकाश पाकर क्रमश: सभ्य होने लगे। ... शिकारी, पशुपालक या मछली खानेवालों को जब कभी भोजन का अभाव महसूस होता, तभी वे समतल भूमि के निवासी कृषकों को लूटने लगते। ...

परन्तु भूतकाल के चिह्न पूर्णत: नष्ट नहीं हुये। जो लोग पहले भेड़ चराते थे, मछलियाँ पकड़कर खाते थे, वे सभ्य होने पर लूटमार और चोरी करने लगे। आसपास शिकार

करने को जंगल नहीं था, भेड़ चराने को पर्वत भी नहीं था – जन्म का रोजगार था शिकार करना, भेड़ चराना या मछली पकड़ना, पर इनमें से किसी की सुविधा नहीं थी। इसीलिये यदि वे चोरी न करें, डाका न डालें, तो जायँ कहाँ?[५७]

जगत् का इतिहास पढ़कर देखो – एक-एक महापुरुष एक-एक समय में, एक-एक देश के मानो केन्द्र के रूप में खड़े हुये थे। उनके भाव से अभिभूत होकर सैकड़ों-हजारों लोग जगत् का कल्याण कर गये हैं।[५८]

न ईसाई धर्म और न विज्ञान, पृष्ठभूमि में वह तो आवश्यकता ही कार्य कर रही थी कि लोग जीवित रहें या भूखों मर जायँ।[५९]

प्रश्न – समाज में कौन-सी महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ होती हैं? किन तत्त्वों से समाज की मूलभूत संरचना बनती है?

उत्तर – (ज्ञान, हथियार, धन और श्रम – ये समाज की मूलभूत शक्तियाँ हैं। इन्हीं से समाज का मूल ढाँचा बना है, जबकि परिवेश, यंत्र आदि गौण हैं।)

ब्राह्मण ने कहा – "सब बलों का बल विद्या है, और वह विद्या मेरे अधीन है, इसीलिये समाज मेरे शासन में रहेगा।" ... क्षत्रिय ने कहा – "यदि मेरा अस्त्र-बल न रहे, तो तुम अपने विद्या-बल सहित न जाने कहाँ चले जाओगे। मैं ही श्रेष्ठ हूँ।" म्यान में तलवार झनझना उठी और समाज ने उसके सामने सिर झुका दिया। ... वैश्य बोला – "पागल, जिसको तुम अखण्ड-मण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम् कहते हो, वही सर्वशक्तिमान मुद्रा-रूप है, और वह मेरे ही हाथों में है। देखो, इसकी बदौलत मैं भी सर्वशक्तिमान हूँ।"[६०]

वे जो लोग किसान हैं, वे कोरी, जुलाहे – जो भारत के नगण्य मनुष्य हैं, विजाति-विजित स्वजाति-निन्दित छोटी-छोटी जातियाँ हैं, वे ही लगातार चुपचाप काम करती जा रही हैं, अपने परिश्रम का फल भी नहीं पा रही हैं। ... हे भारत के श्रमजीवियों, तुम्हारे नीरव, सदा ही निन्दित हुये परिश्रम के फलस्वरूप बेबीलोन, ईरान, सिकन्दरिया, यूनान, रोम, वेनिस, जेनेवा, बगदाद, समरकन्द, स्पेन, पुर्तगाल, फ्रांस, डेनमार्क, हालैंड और इंग्लैंड का क्रमश: आधिपत्य हुआ और उनको ऐश्वर्य मिला है।[६१]

प्रश्न – इतिहास की प्रक्रिया में ये शक्तियाँ कैसे कार्यकर होती हैं?

उत्तर – अगला अध्याय देखें।

प्रश्न – क्या हम इतिहास के सभी परिवर्तनों को प्रगतिवादी कह सकते हैं?

उत्तर – (नहीं।) शूद्रों से भरे यूरोप ने, रोम के दासत्व के बाद अब क्षत्रियों का बल प्राप्त किया है। महा-बलवान चीन हमारे सामने ही बड़ी तेजी से शूद्रत्व प्राप्त कर रहा है, और नगण्य जापान हवा की भाँति शूद्रत्व को झाड़ता हुआ ऊँची जातियों का अधिकार ले रहा है। वर्तमान यूनान और इटली के क्षत्रिय-पद पर उत्थान और तुर्की, स्पेन आदि के पतन के कारण भी यहाँ विचारणीय हैं।[६२]

प्रश्न – परिवर्तन कब प्रगतिवादी बन जाता है? प्रगतिवादी परिवर्तन के क्या लक्षण हैं?

उत्तर – शक्ति संचय जितना आवश्यक है, शक्ति-प्रसार भी उतना ही या उससे भी अधिक आवश्यक है। हृत्पिण्ड में रक्त का एकत्र होना तो आवश्यक है ही, पर उसका यदि सारे शरीर में संचार न हुआ तो मृत्यु निश्चित है। समाज-कल्याण के लिये कुल तथा जाति विशेष में विद्या और शक्ति का एकत्र होना कुछ समय के लिये परम आवश्यक है, पर वह शक्ति सर्वत्र फैलने के लिये ही एकत्र हुई है। यदि ऐसा न हुआ, तो समाज-शरीर अवश्य तत्काल नष्ट हो जायेगा।[६३]

वर्तमान सभ्यता – जैसी पश्चिमी देशों की है – और प्राचीन सभ्यता – जैसी कि भारत, मिस्र और रोम आदि देशों की रही है – इनके बीच अन्तर उसी दिन से शुरू हुआ, जब से शिक्षा, सभ्यता आदि उच्च जातियों से धीरे-धीरे नीच जातियों में फैलने लगी। मैं प्रत्यक्ष देखता हूँ कि जिस राष्ट्र की जनता में विद्या-बुद्धि का जितना ही अधिक प्रचार है, वह राष्ट्र उतना ही उन्नत है। भारत के सर्वनाश का मुख्य कारण यही है कि देश की पूरी विद्या-बुद्धि – शासन तथा दम्भ के बल पर मुट्ठी भर लोगों के एकाधिकार में रखी गयी थी।[६४]

❖ (क्रमशः) ❖

सन्दर्भ-सूची –

५०. विवेकानन्द साहित्य, (संस्करण १९८९) खण्ड ६, पृ. ३७७;वही, **५१**. वही, खण्ड ६, पृ. १३; **५२**. वही, खण्ड ९, पृ. १०७-८; **५३**. वही, खण्ड १, पृ. ४३; **५४-५५**. वही, खण्ड १०, पृ. ६०-१; **५६**. वही, खण्ड ९, पृ. २२२; **५७**. वही, खण्ड १०, पृ. १०३-४; **५८**. वही, खण्ड ६, पृ. २१६; **५९**. वही, खण्ड १, पृ. २९३; **६०**. वही, खण्ड ९, पृ. २१७-१८; **६१**. वही, खण्ड ८, पृ. १८९-९०; **६२**. वही, खण्ड ९, पृ. २१९; **६३**. वही, खण्ड ९, पृ. २१३; **६४**. वही, खण्ड ६, पृ. ३१०-११

श्रीराम-वाल्मीकि-संवाद (११/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम द्वारा १९९६-९७ में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती-समारोहों के समय पण्डितजी ने उपरोक्त विषय पर जो प्रवचन दिये थे, यह उसी का अनुलेख है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)

जसु तुम्हार मानस बिमल
हंसिनि जीहा जासु ।
मुकताहल गुन गन चुनइ
राम बसहु हियँ तासु ।। २/१२८

– "हे राम, आपके यश-रूपी निर्मल मानसरोवर में, जिनकी जिह्वा-रूपी हंसिनी आपके गुणों-रूपी मोतियों को चुनती रहती है, आप उसके हृदय में निवास कीजिये।"

परम श्रद्धेय स्वामी सत्यरूपानन्दजी महाराज और उपस्थित सन्तों के चरणों में मेरा शत-शत नमन है। यह पंचशती-वर्ष है। पाँच सौ वर्ष पूर्व जिस बालक का जन्म हुआ, जिन्हें हम मानस के रचयिता गोस्वामी तुलसीदासजी के रूप में जानते हैं, उनके जन्म को इस वर्ष पाँच सौ वर्ष पूरे हो रहे हैं। देश के विभिन्न भागों में इस सन्दर्भ में आयोजन सम्पन्न हो रहे हैं।

श्रद्धेय स्वामीजी महाराज से आपने गोस्वामीजी के जीवन के सन्दर्भ में कुछ संस्मरण सुने, जिसका उल्लेख गोस्वामीजी ने स्वयं तो नहीं किया है, पर जो जन-समाज में प्रचलित तथा स्वीकृत हैं। गोस्वामीजी ने अपने विषय में जितना कुछ लिखा है, वह बड़ा ही हृदय-द्रावक है, बड़ा ही करुण है। उन्होंने अपने जन्म-स्थान का नाम तक नहीं लिया। पिता-माता या पत्नी का भी नाम कभी नहीं लिखा। पर हाँ, उनकी पंक्तियों से पता चलता है कि उन्होंने कितना दुःख, सन्ताप और अभावपूर्ण जीवन बिताया था। बालक जन्म लेता है तो बधावे बजते हैं। गोस्वामीजी ने 'कवितावली' रामायण में यही कहा कि मैं वह अभागा बालक हूँ, जिसके जन्म के समय बधावा बजने की बात तो दूर, जिसके माता-पिता ने भी परित्याग कर दिया। आज पढ़कर और सोचकर आश्चर्य होता है कि क्या ऐसा भी कोई ज्योतिष का अन्धविश्वासी पिता हो सकता है, जिसे लगे कि इस बालक के जन्म-नक्षत्र में बड़े अनिष्टकारी ग्रह पड़े हुए हैं, अतः इस बालक का परित्याग कर देने में ही हमारा कल्याण है। पिता ने निर्दयता-पूर्वक बालक का परित्याग कर दिया और माँ बाध्य है, कुछ करने में असमर्थ है – शायद ऐसे थोड़े-से अभागे बालक होंगे, जिन्हें ऐसी परिस्थिति का अनुभव होता है। गोस्वामीजी ने यही कहा – जिस बालक के जन्म से माता-पिता को कष्ट हुआ। बार-बार उन्हें यह बात याद आती है –

जायो कुल मंगन बधावनो बजायो सुनि
भयो परितापु पापु जननी-जनक को । कविता. ७/७३
माता पिता जग जाइ तज्यो,
बिधिहूँ न लिख्यो कछु भाल भलाई । कविता. ७/५७

वह तुलसीदास, जिस बालक के जन्म लेते ही माता-पिता ने उसका परित्याग कर दिया और जिसके मस्तक पर ब्रह्मा ने भी कोई भलाई नहीं लिखी थी। उनके ग्रन्थ में कुछ संस्मरण हैं, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि बाल्यवस्था में उनका जीवन कितना अभावग्रस्त था, परन्तु उनके देश, जाति, परिवार आदि का कोई वर्णन नहीं मिलता।

जिन गोस्वामीजी की पंचशती के अवसर पर आज हम इतना प्रसाद बाँट रहे हैं, आनन्द ले रहे हैं, उस बालक को चने के चार दाने भी नहीं मिलते थे। उसका जीवन इतना अभाव से भरा हुआ था। उस बालक को जब माता-पिता ने छोड़ दिया। अन्धविश्वासी पिता के छोड़ देने से भी मृत्यु ने तो उसे नहीं छोड़ा। माँ की भी मृत्यु हो गई। ऐसी स्थिति में एक अनाथ बालक की तरह गोस्वामीजी किसी तरह एक दासी के द्वारा पाले गये। भिक्षा माँगते हुए वे जब लोगों के द्वार पर खड़े हो जाते थे, तो लोग इस बालक को देखकर घबरा जाते थे कि अरे, यह बालक सबेरे-सबेरे आ गया, पता नहीं आज क्या होगा? आज भी होता है। अगर दिन बुरा बीते, तो लोगों के मुख से यह बात अवश्य निकलती है कि पता नहीं आज किसका मुख देखकर उठे थे। अर्थात् मुख दूसरे का ही बुरा है, उसी को देखने से कष्ट हुआ, अपने मुख में तो कोई दोष ही नहीं दिखाई देता। यह बालक तो प्रमाणित अभागा था, अतः उस बालक को देखकर लोगों को घबराहट होगी ही। गोस्वामीजी ने जो शब्द लिखे, उनसे आप उनके कष्ट का अनुभव कीजिए – शास्त्रों में मैंने पढ़ा और लोग कहते हैं कि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष – ये चार फल होते हैं, पर मेरी तो दशा यह थी कि यदि कोई चने के चार दाने मुझे दे दे, तो वे ही मेरे लिए चार फल थे –

बारे तें ललात बिललात द्वार-द्वार दीन ।
जानत हो चारि फल धारि ही चनक को ।। ७/७३

अब आप इससे अनुभव कर सकते हैं कि उनके अभाव और दरिद्रता का जो प्रारम्भिक भाव था, वह कितना करुण

था। इसीलिये तो उन्होंने मानस में भी लिखा – निर्धनता से बढ़कर अन्य कोई दु:ख संसार में नहीं है –

नहिं दरिद्र सम दुख जग माहिं ।। ७/१२१/७

यह कोई केवल बौद्धिक तर्क से कही गयी बात नहीं है, यह तो उनके जीवन की अनुभूति का ही सत्य था। ऐसा जो बालक है, जिसका लोगों ने इतना तिरस्कार किया। उस अभावग्रस्त बालक को भिक्षा देने में इतना संकोच किया।

आजकल एक शोध चला है – गोस्वामीजी का जन्म कहाँ हुआ? उन्होंने स्वयं तो किसी स्थान का नाम नहीं लिखा, पर अन्य ग्रन्थों में लिखा है – राजापुर। यह राजापुर कहाँ है? अभी तो लोग लंका तक की खोज करते हैं। वह तो दूर की बात है, पर राजापुर के भी तीन दावेदार हैं। बाँदा जिले में भी राजापुर है, अयोध्या के बाद थोड़ी दूरी पर एक स्थान है, उसे भी राजापुर कहते हैं। और एक राजापुर है, जिसे सोरों के लोग दावा करते हैं। वे लोग कहते हैं कि राजापुर का नाम बदलकर रामपुर कर दिया है।

इस वर्ष जब मैं अवध में था, तो कई सन्तों ने मुझसे आग्रह किया कि वह बाँदा जिले का राजापुर और सोरों वाला राजापुर तो प्रचारकों द्वारा प्रचारित कर दिया गया, परन्तु अयोध्या की सन्त परम्परा जिसे राजापुर मानती है, उसे आप देखें और बतायें कि कैसा लगता है! तो कई सन्तों के साथ मैं वहाँ गया। योजना यह थी कि सुबह जायेंगे और भोजन के समय तक लौट आयेंगे। वहाँ जो नरहरदास का आश्रम कहा जाता है, उसे जीर्ण-शीर्ण स्थान के रूप में दिखाया गया। जहाँ संगम होता है, उस स्थान का नाम सूकर-खेत है, जहाँ गोस्वामीजी ने अपने गुरुदेव से रामकथा सुनी थी। वह भी दिखाया गया। कई सन्त थे, उनके भाषण में विलम्ब हुआ। अब योजना तो यही थी, कि वहाँ से लौटकर अवध में ही भोजन आदि करेंगे, पर वहाँ बहुत विलम्ब हो गया। तो जो सन्त ले गये थे, उन्होंने वहाँ के लोगों से पूछा कि क्या आप लोगों ने भोजन की व्यवस्था की है? उन्होंने कहा – ऐसी कोई बात तो नहीं है। मुझसे भी बोलने के लिए कहा गया।

मैंने कहा – "राजापुर यह है या नहीं, यह तो विवाद का विषय है, परन्तु मुझे तो आज विश्वास हो गया कि यही वह राजापुर है, क्योंकि तुलसीदासजी को आपने भोजन नहीं दिया था और इस नकली तुलसीदास को भी आप लोग भोजन नहीं दे रहे हैं। तो निश्चित रूप से यही राजापुर रहा होगा।"

तो राजापुर बनना कोई बहुत अच्छी बात नहीं है। राजापुर को गोस्वामीजी ने ज्यादा महत्त्व नहीं दिया था। अब वे इतने बड़े हो गये, तो खींच-तान हो रही है कि उन्होंने हमारे ही यहाँ जन्म लिया था। तो वे बड़े अभाव और कष्ट में रहे। फिर गोस्वामीजी का जीवन हमारे लिए इसलिए भी प्रेरक है कि वह हम सबके जीवन के बहुत निकट है। उन्होंने अपने जीवन में उतार देखा, चढ़ाव देखा, विषय-वासना का ज्वार देखा और फिर वैराग्य का एक उन्मुक्त स्वरूप उनके जीवन में प्रकट हुआ। गोस्वामीजी का जीवन हम सबके जीवन के बहुत निकट है। उनकी पत्नी रत्नावली के विषय में हिन्दू विश्वविद्यालय के एक बड़े विद्वान् प्राध्यापक ने लिखा कि लोग व्यर्थ ही उनका गुणगान करते हैं, वे तो बड़ी कर्कशा थी और तुलसीदास उनके कर्कश वाक्यों से ही विरक्त होकर महात्मा हो गये। मुझे लगा, शायद यह उनका अन्याय है।

वस्तुत: गोस्वामीजी का जीवन विभिन्न अनुभवों से परिपूर्ण है। अभाव का जीवन, सांसारिक मोह का जीवन और उसके पश्चात् उन्हें गुरुदेव की कृपा से सन्त का जीवन मिला। उस अनाथ बालक को जिसको कोई भिक्षा देने को भी तैयार नहीं था, उसको नरहर-दासजी नामक सन्त ने आश्रय दिया। आज तो उनको तुलसीदास कहते हैं, पर उस समय उस बालक का नाम कौन रखता! ज्योतिषी पिता ने तो उसको छोड़ ही दिया था, तो उस अनाथ बालक को पहली बार उनके गुरुदेव ने ही नाम दिया। गोस्वामीजी कहते हैं – जब मैं गुरुदेव के चरणों में गिर पड़ा, तो उन्होंने मेरे पीठ को सहलाया और कहा कि अच्छा तो मैं तेरा नाम रखता हूँ – 'रामबोला'।

रामबोला राख्यौ नाम ।। विनय-पत्रिका, ७६

और 'रामबोला' नाम बड़ा विलक्षण है। एक कवि ने बड़ी मधुर बात कही कि 'रामबोला' नाम पढ़-सुनकर मन में प्रश्न उठता है – "यह जो 'रामबोला' हैं – उनको हम क्या मानें? कहें कि राम स्वयं बोला? क्या तुलसीदास से राम ही बोलने जा रहे थे, इसलिए 'रामबोला' नाम पड़ा?" सचमुच ही उन्होंने राम नाम का आश्रय लिया और बारम्बार अपने गुरुदेव के प्रति विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित की। यदि उनके अन्त:करण में सबसे अधिक आस्था थी, तो अपने गुरुदेव के प्रति। वे बार-बार कहते हैं कि आज यदि इस जीवन में कुछ धन्यता है, वह गुरुदेव की कृपा के कारण है।

जब गोस्वामीजी महात्मा के रूप में प्रसिद्ध हुए, सिद्ध के रूप में उनकी चर्चा होने लगी, जब उनके द्वार पर राजाओं की भीड़ लगने लगी, जिस बालक को अभागा माना गया था, उससे लोग आशा करते थे कि एक बार यदि वे दृष्टि उठाकर देख लें तो हमारा दुर्भाग्य मिट जाय, हमारा कष्ट मिट जाय। गोस्वामीजी ने इन दृश्यों को देखा और एक दोहा लिखा, जिसे पढ़कर एक सज्जन कहने लगे कि उन्होंने क्या हल्की बात लिख दी! गोस्वामीजी ने लिखा – वह तुलसी ऐसा था कि जिसको एक मुट्ठी आटा भी नहीं मिलता था और अब रामकृपा से दोनों समय पूरियाँ खाने को मिलती हैं –

ते तुलसी ऐसे हुते मिले न चुटकी चून ।
अब तो राम कृपा भई लुचुई दूनो जून ।।

उन्होंने कहा कि यह कितनी हल्की बात है। पूड़ी खाने को मिले यह कोई बड़ी ऊँची बात है, क्या? गोस्वामीजी तो यही बोले – जिसको चार चने भी नहीं मिलते थे, एक मुट्ठी आटा भी नहीं मिलता था, उससे लोग दोनों जून पूड़ी खाने का आग्रह करते हैं। उन विद्वान् का कहना था कि पूड़ी को इतना महत्व देना ! मैंने कहा – आप जैसे बड़े लोग तो जब चाहे पूड़ी खा सकते हैं, बहुत-से लोग खाते हैं और पूड़ी यदि अच्छी बनी होगी तो आपको रसोइये की याद आवेगी, परन्तु पूड़ी आने पर तुलसीदास को राम की याद आई।

आप में और उनमें यही अन्तर है। उनको हर छोटी-सी छोटी वस्तु में यही लगता था कि इस अनाथ बालक को आज जो कुछ मिल रहा है, वह केवल प्रभु की ही कृपा का परिणाम है। कहते हैं – जो तुलसी द्वार-द्वार टुकड़े माँगता फिरता था, आज बड़े-बड़े राजा उसके चरण पूजते हैं –

घर-घर माँगे टूक पुनि, भूपति पूजे पायँ।
ते तुलसी तब राम बिनु ते अब राम सहाय।। दोहा. १०९

इन पंक्तियों को लिखकर वे यह बताना चाहते हैं कि मैं कोई दिव्य या साधन-सम्पन्न व्यक्ति अथवा कोई चमत्कारी महापुरुष नहीं हूँ। मैं तो अत्यन्त दीन-हीन, अत्यन्त अभावग्रस्त अभागा माना जानेवाला बालक हूँ। यह बात वे अपने हर ग्रन्थ में लिखना और बताना नहीं भूलते। 'कवितावली' में भी उन्होंने यही कहा। किसी ने कहा कि आपके पिताजी अच्छे ज्योतिषी नहीं थे, अन्यथा आपके जैसे महापुरुष को अभागा कैसे लिखते ! गोस्वामीजी बोले – नहीं, ऐसा नहीं है। किसी ने पूछा – बचपन में आप मोटे थे या दुबले। अब जिसको खाने को न मिले वह भला क्या मोटा होगा? पर गोस्वामीजी ने कहा – मैं बहुत मोटा था, और बहुत दुबला भी था। ये दोनों एक साथ कैसे हो सकते हैं? कवितावली में गोस्वामीजी कहते हैं – 'पातक पीन' – मेरे पाप पर दृष्टि डालें, तो मैं बहुत मोटा था। दूसरी ओर अभाव और दरिद्रता के कारण दुबला था। और मेरे पास क्या वस्तु होती थी? चिथड़ों से बनी हुई जो कथरी होती थी, वह मेरे ओढ़ने के लिए होती थी, और मिट्टी का एक सकोरा एक पात्र ही मेरे भिक्षा लेने का माध्यम था और लोग कहते थे कि यह अभागा है, पिताजी ने भी यही माना, तो उन्होंने गलत नहीं कहा –

पातक पीन कुदारिद दीन
हाथ घरें कथरी करवा है।
लोकु कहै बिधिहूँ न लिख्यो
सपने हूँ नहीं अपनो बरबा है।। कविता. ७/५६

लोगों ने कहा और मैं भी कहता हूँ – ब्रह्मा ने भी मेरे मस्तक में कोई भाग्य नहीं लिखा। और उसके लिए वे बड़ी सुन्दर युक्ति देते हैं – कहते हैं कि ब्रह्मा शिशु के मस्तक पर उसका भाग्य लिख देते हैं। उन्होंने जब सोचा कि इस बालक के माथे पर इसका भाग्य लिख दूँ, तो उन्होंने चित्रगुप्त से कहा – 'इसके पुण्य का खाता लाओ।' वे बोले – 'इसने तो एक भी पुण्य नहीं किया है।' अब क्या लिखें? बोले – 'अच्छा, तो पापों का खाता लाओ।' और पापों के खाते जब आने लगे, तो खातों का ढेर पर्वताकार होता गया। ब्रह्मा ने पूछा – 'और कितने खाते हैं?' बोले – 'महाराज, अभी तो बहुत हैं।' ब्रह्मा घबरा गये। बोले – 'इसका हिसाब करने बैठें, तो बाकी लोगों का हिसाब रुक जायगा। जब इसके कोई अच्छे कर्म हैं ही नहीं, तो अच्छा क्या लिखूँ। और पाप इतने हैं कि इसके छोटे-से सिर पर लिखा ही नहीं जा सकता। तो जाने दो, इसके सिर को कोरा ही छोड़ दो।'

किसी ने कहा – आजकल तो ऐसा नहीं लग रहा है? तो गोस्वामीजी एक बड़ी सुन्दर बात कहते हैं – एक बार मैंने गुरुदेव के मुख से, भक्तों के मुख से प्रभु के स्वभाव के विषय में सुन लिया और जाकर जब मैंने उनके चरणों में प्रणाम किया, तो उसी समय उनको कोरे कागज की जरूरत थी। उन्होंने ज्यों ही मेरे सिर को देखा, तो बोले – 'यह तो बिलकुल कोरा है, चलो, इसी पर लिख दें।' और आज जो तुलसीदास है, उसके सिर पर ब्रह्मा ने नहीं, स्वयं श्रीराम ने लिखा है। वे कहते हैं –

राम को किंकरु सो तुलसी
समुझें हि भलो कहिबो न रवा है।
ऐसे को ऐसो भयो कबहूँ न
भजे बिनु बानर को चरवा है।। कविता. ७/५६

वही तुलसी आज राम का दास, राम का किंकर हो गया है। यह कहने की नहीं, समझने की बात हैं। समझने की क्या बात है? बोले – हमारे श्रीराम बानर के चरवाहे हैं, और पशुओं में सबसे अधिक दोषयुक्त कोई पशु होता है, तो वह बानर है। गोस्वामीजी बोले – जब वे बानर के चरवाहे बने, तो बानर में तो दोष-ही-दोष हैं और मुझे भी देखकर उनको लगा कि बन्दरों वाली सारी बातें, सारे पाप इसमें है। तब उन्होंने कहा कि मेरी इस बानर-सेना में क्यों ने तुम्हें भी शामिल कर लिया जाय ! इसीलिये वे कहते हैं – बिना बानर के चरवाहे की कृपा के ऐसा कैसे हो सकता था?

उसका मूल संकेत इतना ही है कि गोस्वामीजी अपनी साधनाओं से महान् नहीं थे, बल्कि वे इसलिए महान् थे कि उन्होंने अपने जीवन में कहीं भी रंचमात्र भी किसी विशेषता का अनुभव नहीं किया। आप भी यदि उनके विनय-पत्रिका, दोहावली, कवितावली के पदों को पढ़ेंगे, तो देखेंगे कि वे किस तरह से अपने मन तथा अपने जीवन की घटनाओं को देखते हैं, कैसे उन्हें अपने आप में कमियाँ दिखाई देती हैं, अभाव दिखाई देता है। सैकड़ों वर्षों से अब तक गोस्वामीजी तथा उनके ग्रन्थ के प्रति लोगों का जो आकर्षण बढ़ रहा है,

उसका क्या रहस्य है, उसका क्या तात्पर्य है?

गोस्वामीजी में विद्वत्ता नहीं थी, साधना नहीं थी, यहाँ कहा जाता है कि उनके द्वारा मुर्दा भी जीवित हो गया, तो कई लोग आकर पूछते – 'महाराज, कौन-सा अनुष्ठान, कौन -सी साधना आपने की, जिससे आपको सिद्धि मिली, हमें भी तो बता दीजिए।' गोस्वामीजी जी ने कहा – 'बता देता हूँ।' – समझता था, बहुत दिन बाद बतावेंगे। गोस्वामीजी बोले – आज ही बता देता हूँ। – बताइए। बोले – 'बस! राम-राम।' – 'महाराज, आप चतुराई कर रहे हैं। छिपा रहे हैं। राम-नाम तो हम पहले से जानते थे।' सब लोग राम-नाम जानते हैं, गुरुजी ने कह दिया, राम-नाम बता दिया। गोस्वामीजी ने उस समय जो वाक्य कहा विनय-पत्रिका में है – शंकरजी की शपथ लेकर कहता हूँ कि मैंने कुछ भी यदि छिपाया हो तो मेरी जिह्वा गलकर गिर जाय। क्या?

संकर साखि जो राखि कहौं कछु तौ जरि जीह गरो।
अपनो भलो राम नामहि ते तुलसीहि समझ परो।।
विनय-२२६

गुरुदेव ने केवल रामनाम दिया और मेरा जो जीवन है, इसकी जो धन्यता या यदि इसमें कोई विशेषता दीख पड़ती है, तो वह रामनाम का प्रभाव है, रामनाम की महिमा है। यह है गोस्वामीजी के जीवन का मूलसूत्र। उनके ग्रन्थ की जो विलक्षणता है और जिस सन्दर्भ से आपके समक्ष इतने वर्षों से चर्चा की जाती हैं, उनमें एक विलक्षणता है गोस्वामीजी की व्यापक दृष्टि। जिस तरह उन्होंने अपने श्रीराम को हमारे समक्ष प्रस्तुत किया, वह सचमुच बड़ा प्रेरक है, बड़ा कल्याणमय है और उस कल्याणमयता का स्रोत उनकी विशिष्टता में नहीं, अपितु उनके अभाव और दैन्य में है।

गोस्वामीजी के जीवन की उपलब्धि क्या है? ज्ञान की महान् से महान् व्याख्याएँ उनके ग्रन्थ में मिलेंगी, भक्ति और कर्मयोग के अनेक तत्त्व उनके ग्रन्थ में मिलेंगे, पर गोस्वामीजी स्वयं अपने को न ज्ञानी मानते हैं, न भक्त और न कर्मयोगी। वे कहते हैं कि जब कर्म-सिद्धान्त माननेवालों ने मुझे देखा, तो बोले कि अरे भाई, यह तो कण्ठी-माला धारण करनेवाला वैरागी है, यह कर्म के रहस्य को क्या जानेगा। उन्होंने कहा – तुम हमारे यहाँ सम्मान नहीं पा सकते। और ज्ञानियों ने देखा कि यह तो आँसू बहा रहा है, तो उन्होंने कहा कि इसमें ज्ञान ही नहीं है। भक्ति का लक्षण मुझे अपने में कुछ मिला नहीं। और तब प्रश्न उठा – आपको भगवान मिले या नहीं? मिले। – कैसे मिले? ज्ञान से, या भक्ति से, या कर्मयोग से? गोस्वामीजी बोले – मैं तो तीनों ओर से निष्काषित था, पर इस दीनता और अभाव के मार्ग से मैं प्रभु को पा गया –

करमठ कठमलिया कहैं, ग्यानी ज्ञान बिहीन।
तुलसी त्रिपथ बिहाइगो राम दुवारें दीन।। दोहा. ९९

बड़ी अनोखी बात है। गोस्वामीजी की धन्यता उनके दैन्य में है, उनके अभाव में है। और यह अभाव वे अपने जीवन में आदि से अन्त तक सर्वदा अनुभव करते रहे। किसी ने कहा – महाराज, रामनाम तो आप बड़े प्रेम से लेते हैं, पर आपका कोई परिवार तो है नहीं। गोस्वामीजी ने बड़ी विनम्रता के साथ कहते हैं – नहीं भाई, तुम्हें नहीं दिखाई देता, पर हमारा पुत्र है। लोग पुत्र के लिये बहुत-सा काम करते रहते हैं, मैं भी अपने पुत्र के लिये रामनाम ले रहा हूँ। – आपका पुत्र कौन है? बोले – हमारा पेट ही पुत्र है और उसी को भरने के लिये रामनाम लेता हूँ –

पेट प्रिय पूत हित राम नामु लेत है। कविता., ७/८२

ऐसी भाषा वह सन्त ही बोल सकता है, जिनको बोध होता हो कि अपने में न तो ज्ञान है और न वैराग्य। वे सूक्ष्म मन का चित्र प्रस्तुत करते हैं और स्पष्ट कहते हैं – मुझमें तो कुछ भी, कोई भी विशेषता नहीं है, जो विशेषताएँ दिखायी दे रही हैं, वह भी मेरा केवल एक ढकोसला है, पाखण्ड है।

गोस्वामीजी 'मानस' में श्रीराम का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं, उनका सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं। और साथ ही वे उनके चरित्र की मर्यादा भी बताते हैं। श्रीराम के स्वभाव को उन्होंने सर्वाधिक महत्त्व दिया है। भगवान के अनन्त गुणों का कभी कोई वर्णन ही नहीं कर सकता। गोस्वामीजी स्वयं कैसे कह पाते कि मैं श्रीराम के समग्र गुणों का वर्णन कर रहा हूँ, पर जब भी गुणों की बात आई, तो वहाँ बड़ा मधुर संकेत है, प्रभु महर्षि वाल्मीकि से पूछते हैं – मैं कहाँ रहूँ? और महर्षि भक्तों के चौदह प्रकार के हृदय भगवान के समक्ष रखते हैं। उनमें से तीसरा स्थान बड़ा सांकेतिक है –

जस तुम्हार मानस बिमल।। २/१२८

इस ग्रन्थ को 'रामायण' या 'राम-चरित-मानस' भी कहते हैं। इसके रचयिता के रूप में हम जिनका स्मरण करते हैं, पर उन्होंने कभी स्वयं को मानस का रचयिता नहीं माना। वे कहते हैं – वस्तुत: मेरे गुरुदेव ने बचपन में मुझे बारम्बार सुनाया। अल्प बुद्धि के कारण मैं उतना नहीं समझ सका। गुरुदेव बड़े कृपालु थे, उन्होंने बारम्बार सुनाया। सुनने के बाद मुझे ऐसा लगा कि जो कठिनाई समझने में है, उसे मैं बारम्बार दुहराता हूँ, क्यों न मैं इसे गाँव की जनभाषा में लिख डालूँ! अत: मैं तो रचयिता नहीं, केवल अनुवादक मात्र हूँ। उन्होंने कहा – वस्तुत: रामायण के रचयिता तो भगवान शिव हैं। कोई नहीं जानता कि उन्होंने कब इसकी रचना की और रचना करके उन्होंने इसे अपने हृदय में रख लिया था और समय आने पर पार्वतीजी को सुनाया। आपने कवियों का स्वभाव देखा होगा। वे जब कविता बनाते हैं, तो श्रोता ढूँढ़ते हैं और लोगों के पीछे पड़ जाते हैं कि सुन लो। इसे लेकर न जाने कितने चुटकुले आपने सुने होंगे।

रामायण एक ऐसा ग्रन्थ है, जो साधकों के लिए है और सिद्धों के लिए भी है। समाज का ऐसा कोई वर्ग नहीं, जिसे इसमें अपनी समस्याओं का समाधान न मिले। इसके साथ ही गोस्वामीजी ने एक बड़ा महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया, जिसे वे 'रामकृपा' कहते हैं। यदि आपको उनका स्वरूप जानना है, तो ज्ञानी बनिए। भगवान का सिद्धान्त, उनके नियम और संविधान जानना है, तो स्मृतियों का, कर्मशास्त्र का अध्ययन कीजिए। और यदि आप यह जानना चाहें कि भगवान किस साधना से प्रसन्न होते हैं, तो भक्त बनिए।

पर उन्होंने एक नई बात भी कही। आप जब कहते हैं आपमें ज्ञान नहीं, भक्ति नहीं, तो आपको भगवान का अनुभव कैसे हुआ? तो उन्होंने जो सूत्र दिया – हमारे प्रभु का स्वभाव ज्ञानी नहीं जान सकता, कर्मयोगी भी नहीं जान सकता और उसे पूरी तरह से भक्त भी नहीं जान सकता।

तो कौन जान सकेगा? उन्होंने एक ही सूत्र दिया – **प्रभु का स्वभाव जानने के लिए विशेषताओं की नहीं, अभाव की आवश्यकता है।** अभाव से स्वभाव का ज्ञान होता है। सीधी सी बात है। मान लीजिये आप घड़े में गंगाजल भरे हुए हैं, किसी तीर्थ का जल रखे हुए हैं या समुद्र का जल रखे हुए हैं। ये सभी बड़े पवित्र हैं, पूज्य हैं। पर जिसका घड़ा खाली है, उसमें यदि कोई वस्तु भर दी जाय, तो वही कृपा है।

गोस्वामीजी श्रीराम के गुणों का वर्णन करते है – प्रभो, आपका यश मानो विमल मानसरोवर है। अन्य नदियों तथा सरोवरों में मलिनता आ जाती है, पर मानसरोवर का जल तो निरन्तर एकरस स्वच्छ रहता है। गोस्वामीजी कहते हैं – एकमात्र हमारे प्रभु का यश ही शाश्वत है, निर्मल है और उसमें रंच मात्र भी किसी तरह के दोष की कल्पना नहीं की जा सकती। पर यहाँ भी गोस्वामीजी ने एक ऐसी मीठी बात कह दी, जिससे लगता है कि गोस्वामीजी को श्रीराम इतने प्रिय क्यों लगते हैं। उन्होंने कहा कि यदि आप किसी सरोवर में जायँ और उसमें कमल खिले हुए देखें, तो शोभा देखकर आप प्रसन्न होंगे। जल स्वच्छ हुआ तो हो सकता है कि मन में नहाने की इच्छा भी हो जाय। आपको प्यास लगी हो और जल स्वच्छ ही नहीं, मीठा भी हो, तो पीने की इच्छा होगी। उन्होंने कहा – यहाँ तो सुन्दर कमल भी खिले हुए हैं –

छन्द सोरठा सुन्दर दोहा।
सोइ बहुरंग कमल कुल सोहा।।
अरथ अनूप सुभाव सुभासा।
सोइ पराग मकरन्द सुबासा।। १/३७/६-७

साहित्य का विद्यार्थी 'मानस' की साहित्यिक रचना देखकर चकित हो जाता है। पर समाज का चरित्र भी स्वच्छ होना चाहिए। गोस्वामीजी कहते हैं – यदि आपको लगता है कि शरीर गन्दा है, तो नहाते हैं और नहाने से गन्दगी धुलती है। यदि लगता हो कि आपके चरित्र में कोई गन्दगी या दोष आ गया है, तो प्रभु-चरित्र के निर्मल जल में स्नान कीजिए –

लीला सगुन जो कहहि बखानी।
सोइ स्वच्छता करइ मलहानी।। १/३६/५

सारे विश्व के इतिहास या पुराण में श्रीराम जैसा निश्कलंक और निर्मल चरित्र कोई अन्य नहीं मिलेगा। इसमें स्नान करके निश्चय ही आपका चरित्र शुद्ध होगा। और यदि कोई कहे कि केवल स्नान ही क्यों, हम तो पीना भी चाहते हैं, तो कहते हैं कि इसमें शीतलता के साथ मधुरता भी है –

प्रेम भगति जो बरनि न जाई।
सोइ मधुरता सुसीतलताई।। १/३६/६

उनके चरित्र में स्वच्छता के साथ ही प्रेम की मधुरता और भक्ति की शीतलता भी है। इसमें आकर आप चाहें तो अपने तथा समाज के चरित्र को स्वच्छ बनायें या अपने जीवन की प्यास मिटायें। प्रभु के चरित्र की मिठास तथा शीतलता से हम अपनी प्यास मिटा सकते हैं, तृप्त हो सकते हैं।

और यदि कोई कहे कि हम तो तैरना चाहते हैं। जल तो बड़ा स्वच्छ और मीठा तो है, पर परिमाण कितना है? तो गोस्वामीजी उसे भी निमंत्रण देते हैं। जल की स्वच्छता तो ऊपर से दिखाई देती है, मिठास आचमन से पता चल जाता है, पर जल की गहराई की थाह तो गोताखोर और तैराक ही पा सकता है। भगवान के सगुण-साकार लीला में स्वच्छता, भक्ति-प्रेम की शीतलता व मधुरता के साथ ही गहराई भी है।

गुणगान श्रीराम का ही क्यों करें? गोस्वामीजी कहते हैं कि उनका गुणगान छोड़कर जिसकी जिह्वा से अन्य किसी के गुणों का वर्णन नहीं होता, क्योंकि हंस मोती छोड़ और कुछ नहीं चुगता। भगवान के गुणों को छोड़ और कोई गुण गाने योग्य है ही नहीं। और इससे जुड़ा दार्शनिक सूत्र बड़ा गम्भीर है। भगवान के चरित्र तथा गुणों के सन्दर्भ में एक प्रश्न जुड़ा है – ईश्वर सगुण हैं या निर्गुण? सगुण का अर्थ है – जिसमें गुण विद्यमान है। और जो अगुण है, वह गुणों से परे हैं।

गोस्वामीजी ने एक नया सूत्र दिया और यही 'मानस' की गहराई है। प्रभु की सगुण लीला के पीछे अगुण की गहराई है। अगुण निष्क्रिय होने के कारण हमारे लिए अनुपयोगी है और सगुण भी अधूरा है। पर श्रीराम की विशेषता यह है कि ऊपर से वे सगुण हैं और अन्तराल में अगुण हैं –

रघुपति महिमा अगुन अबाधा।
बरनब सोइ बर बारि अगाधा।। १/३७/२

अन्यत्र कुछ लोग गुणवान हैं और कुछ लोग गुणरहित हैं और दोषी हैं। परन्तु श्रीराम की विशेषता क्या है? बोले – सगुण होते हुए भी वे अपने आप में अगुण हैं।

❖ (क्रमशः) ❖

ममता बुरी बलाय

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विभिन्न विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय-समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

कहावत प्रसिद्ध है कि 'ममता बुरी बलाय' – अर्थात् ममता एक बुरी बला है। यह सही है कि ममता के द्वारा माता-पिता अपनी सन्तानों का परिपालन करने की प्रेरणा पाते हैं, पर यह भी सही है कि ममता-रोग से ग्रस्त व्यक्ति स्वार्थ के तंग दायरे में घिरकर संकीर्ण, अनुदार और पक्षपाती हो जाता है। एक न्यायाधीश का किस्सा है । उसने न जाने कितने अपराधियों को फाँसी की सजा दी थी। किन्तु एक दिन जब उसी का लड़का हत्या के अपराध में उसी की अदालत में पेश किया गया, तो न्यायाधीश का स्वर बदल गया। वह दलील देने लगा कि फाँसी की सजा अमानवीय है, मनुष्य को ऐसी कठोर सजा देना शोभा नहीं देता, इससे अपराधी के सुधरने की आशा खत्म हो जाती है; खून करनेवाले ने भावना और आवेश में, जोश और उत्तेजना में खून कर डाला, पर जब उसकी उत्तेजना खत्म हो जाती है, तो उसे अपने किये पर ग्लानि होती है, इसलिए फाँसी के तख्ते पर चढ़ाकर उसके प्रायश्चित्त का रास्ता बन्द नहीं करना चाहिए, आदि आदि। यदि न्यायाधीश के सामने उसका अपना लड़का न होकर कोई अन्य होता, तो उसने बेहिचक फाँसी की सजा दे दी होती, पर अपने लड़के के प्रति उसका ममत्व उसके कर्तव्य-पालन में आड़े आ रहा था।

इस ममत्व का कारण यह है कि हम संसार को 'पदार्थनिष्ठ' दृष्टिकोण से नहीं देख पाते। संसार को देखने के दो तरीके हैं - एक तो वह जिसे हम subective यानी 'आत्मनिष्ठ' दृष्टिकोण कहते हैं और दूसरा वह, जो objective यानी 'पदार्थनिष्ठ' या 'वस्तुनिष्ठ' दृष्टिकोण कहलाता है । पदार्थ के अपने कुछ विशिष्ट गुण होते हैं, जो उस पदार्थ के सन्दर्भ में तो अपरिवर्तनशील हैं, पर व्यक्ति-भेद से उनके महत्त्व और उपादेयता में भिन्नता हुआ करती है । उदाहरणार्थ, हम सोने की एक डली लें। सोने की दृष्टि से सोने के जो गुण हैं, वे परिवर्तित नहीं होते, पर विभिन्न व्यक्ति उस डली को अलग अलग दृष्टि से देखेंगे – कोई उसमें हार देखेगा, तो कोई कंगन। जिसे कर्णफूल बनाने की इच्छा होगी, वह उस डली में कर्णफूल देखेगा । इस प्रकार व्यक्ति-भेद से सोने के साथ रागात्मक सम्बन्ध में भी भिन्नता हो जाती है। यदि ये रागात्मक सम्बन्ध हटा दिये जायँ, तो व्यक्ति निरपेक्ष दृष्टि से सोने को देखने में समर्थ होगा। उसे सोना, सोना ही दिखाई देगा। हम अपनी इस बात को थोड़ा और स्पष्ट करें।

कल्पना करें कि एक व्यक्ति जरूरत में पड़कर अपना सोने का गहना बेचने दुकान पर आया है। इस व्यक्ति के लिए भले ही गहने का रूप सत्य हो, पर दुकानदार के लिए तो सोना ही सत्य है । वह रूप की तनिक भी परवाह नहीं करता । अगर गहना हाथ से छूटकर नीचे गिर जाय, तो बेचनेवाला लपककर उसे उठा लेगा और देखेगा कि वह कहीं टूटा या पिचका तो नहीं है । पर दुकानदार अविचलित रहता है । गहने के टूटने या पिचकने से उसका कोई प्रयोजन नहीं। गहना साबुत हो तो भी उसकी दृष्टि में उसकी उतनी ही कीमत होगी, जितनी कि उसके टूटने या पिचकने पर।

ममत्व का यह रोग हममें इतनी गहराई तक व्याप्त है कि इसने हमारे राष्ट्रीय चरित्र को ही दूषित कर रखा है। रोग की इस विभीषिका से त्राण पाने का उपाय यह है कि हम अपने दृष्टिकोण को अधिकाधिक 'वस्तुनिष्ठ' बनाने का प्रयास करें।

विश्वविख्यात वैज्ञानिक अल्बर्ट आइंस्टाइन इस ममत्व को 'चेतना का दृष्टिगत भ्रम' कहते हैं। उन्होंने अपने एक मित्र को उसके आत्मीय की मृत्यु पर सान्त्वना-पत्र में लिखा - "मनुष्य उस समग्र का जिसे हम 'जगत्' कहते हैं, देश और काल में बँधा एक अंश है। वह अपने को, अपने विचारों और भावनाओं को शेष सबसे अलग-थलग मानकर अनुभव करता है। यह उसकी चेतना का एक तरह से दृष्टिगत भ्रम है। यह भ्रम हमारे लिए जेलखाने के समान है, जो हमें अपनी व्यक्तिगत चाहों और अपने इने-गिने निकटतम लोगों के प्रति प्यार में 'कैद' कर देता है। हमें चाहिए कि हम अपनी सहानुभूति के घेरे को ऐसा बढ़ाएँ जिससे सम्पूर्ण प्राणी और सारा निसर्ग अपने सौन्दर्य के साथ उसमें आकर समा जाय और इस प्रकार हम इस कैद से अपने को मुक्त कर लें। यद्यपि कोई भी इसे पूरी तरह से साधित करने में समर्थ नहीं है, फिर भी इसे साधने का प्रयत्न करना अपने आप में मुक्ति का एक अंग है और आन्तरिक सुरक्षा का आधार है।" ❑❑❑

श्रीरामकृष्ण की कथाएँ और दृष्टान्त

(कथाओं व दृष्टान्तों के माध्यम से अपनी बातें समझाने की परम्परा वैदिक काल से ही चली आ रही है। श्रीरामकृष्ण भी अपने उपदेशों के दौरान कथाओं तथा दृष्टान्तों के माध्यम से धर्म के गूढ़ तत्त्व समझाते थे। यत्र-तत्र बिखरी इन मूल्यवान कथाओं को यहाँ धारावाहिक रूप से प्रस्तुत किया जा रहा है। जनवरी २००४ से जून २००५ तक और तदुपरान्त अप्रैल २००६ अंक से ये पुन: प्रकाशित हो रही हैं – सं.)

– १४८ –

अवतार असंख्य होते हैं

ज्ञानी निराकार का चिन्तन करते हैं। अवतार नहीं मानते।

अर्जुन ने श्रीकृष्ण की स्तुति की – तुम पूर्ण ब्रह्म हो।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा – आओ, देखो, हम पूर्णब्रह्म हैं या नहीं।

इसके बाद श्रीकृष्ण ने अर्जुन को एक जगह ले जाकर पूछा – क्या देखते हो?

अर्जुन बोले – मैं एक बड़ा पेड़ देख रहा हूँ, जिसमें गुच्छे-के-गुच्छे जामुन के फल लगे हुए हैं।

श्रीकृष्ण ने कहा – और भी पास जाकर देखो; वे काले जामुन नहीं, गुच्छे-के-गुच्छे मेरे ही समान असंख्य कृष्ण फले हुए हैं। अर्थात् उस पूर्ण ब्रह्म-रूपी वृक्ष से हजारों अवतार होते हैं और फिर चले जाते हैं।

– १४९ –

ईश्वर के लिये कुछ भी असम्भव नहीं

दक्षिणेश्वर के काली-मन्दिर की संस्थापिका रानी रासमणि के दामाद और उनकी जमींदारी के प्रबन्धक मथुर बाबू ने एक दिन श्रीरामकृष्ण से कहा – "ईश्वर को भी अपने नियम के अनुसार चलना पड़ता है। एक बार उन्होंने जो नियम बना दिया है, उसे रद्द करने की क्षमता उनमें भी नहीं है।"

श्रीरामकृष्ण बोले – "यह तुम क्या कह रहे हो? जिसने कानून बनाया है, यदि उसकी इच्छा हो तो वह उसे जब चाहे रद्द कर सकता है या फिर उसके स्थान पर दूसरा कोई कानून भी बना सकता है।"

परन्तु मथुर बाबू को यह बात बिल्कुल भी नहीं पटी, उन्होंने कहा – "लाल फूल के पेड़ में हमेशा लाल फूल ही लगा करते हैं, सफेद फूल कभी नहीं लगते; क्योंकि ऐसा ही उनका बनाया हुआ नियम है। क्या वे लाल फूल के पेड़ में सफेद फूल खिलाकर दिखा सकते हैं!"

श्रीरामकृष्ण बोले – "यदि वे चाहें, तो कुछ भी कर सकते हैं। तुम जो कह रहे हो, वह भी हो सकता है, क्योंकि सब कुछ उन्हीं की इच्छा से होता है।"

परन्तु मथुर बाबू को इस बात पर विश्वास नहीं हुआ। इसके परवर्ती दिन श्रीरामकृष्ण शौच के लिए झाऊ की झाड़ियों की ओर गये, तो देखा कि एक लाल गुड़हल के पौधे की एक ही डाल पर दो फूल लगे हुए हैं – एक लाल और दूसरा बिल्कुल सफेद। श्रीरामकृष्ण उस डाल को तोड़कर मथुर बाबू के पास लाकर बोले – "यह देखो।"' मथुर बाबू उसे देखकर आश्चर्य-चकित रह गये और कहने लगे – "हाँ बाबा, अब मैं कभी आपसे बहस नहीं करूँगा।"

– १५० –

धन और मिट्टी एक समान हैं

एक बार किसी चोर ने दक्षिणेश्वर के विष्णु-मन्दिर के सारे गहने चुरा लिए।

मथुर बाबू और श्रीरामकृष्ण, दोनों ही मूर्ति को देखने के लिए मन्दिर के भीतर गए। मथुर बाबू ने विग्रह को सम्बोधित करके कहा – "चलो महाराज, तुममें कोई शक्ति नहीं है। तुम्हारी देह से सभी गहने निकाल लिये गये और तुम कुछ नहीं कर सके!"

इस पर श्रीरामकृष्ण ने उनसे कहा – "यह तुम्हारी कैसी बुद्धि है! जिसके सामने तुम 'गहने-गहने' चिल्लाते हो, उनके लिए ये सब मिट्टी के ढेले मात्र हैं। सकल ऐश्वर्यों की अधीश्वरी लक्ष्मीजी जिनके चरणों की दासी हैं, वे क्या तुम्हारे चोरी गए इन कुछ गहनों के लिए परेशान होंगे! ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए।"

श्रीरामकृष्ण कहते हैं – ईश्वर ऐश्वर्य के नहीं, भक्ति के वश हैं। वे धन-दौलत नहीं – भाव, प्रेम, भक्ति, विवेक, वैराग्य आदि के भूखे हैं।

– १५१ –

ईश्वर का स्वभाव

ईश्वर बाल-स्वभाव हैं। एक बालक अपने कपड़े के छोर में हीरे-मोती भरे बैठा है। कितने ही लोग रास्ते से चले जा रहे हैं। अनेक लोग उससे माँग रहे हैं, पर वह हाथ से उन्हें ढँककर कहता है – 'नहीं, मैं नहीं दूँगा।' पर एक व्यक्ति ने माँगा ही नहीं, अपने रास्ते पर चलता रहा। बालक उसके पीछे दौड़कर स्वयं खुशामद करके उसे रत्न दे देता है।

ईश्वर की कृपा अहैतुकी होती है, जैसे कोई निर्धन बालक किसी बड़े आदमी की दृष्टि में पड़ गया। उसके साथ उसने अपनी लड़की ब्याह दी। इससे एक साथ ही उसके गाड़ी-घोड़े, दास-दासी, माल-असबाब, घर-द्वार – सब हो गया।''

– १५२ –

ईश्वर हमारे अपने हैं

काली-मन्दिर के सामने कुछ सिक्ख लोग कह रहे थे – ''ईश्वर दयामय हैं।''

श्रीरामकृष्ण ने पूछा – ''वे दया किन पर करते हैं?''

सिक्ख बोले – ''महाराज, हम सब पर उनकी दया है।''

श्रीरामकृष्ण ने कहा – ''जब सब उन्हीं के बच्चे हैं, तो फिर दया कैसी? वे अपने बच्चों की देखरेख कर रहे हैं। वे नहीं देखेंगे, तो क्या आस-पड़ोस के लोग आकर देखेंगे? देखो, जो लोग ईश्वर को दयामय कहते हैं, वे नहीं समझते कि हम किसी दूसरे के नहीं, ईश्वर के ही बच्चे हैं।''

तो क्या हम ईश्वर को दयामय न कहें? अवश्य कहना चाहिए – जब तक हम साधना की अवस्था में हैं। उन्हें प्राप्त कर लेने पर उनके प्रति अपने माँ-बाप जैसा भाव हो जाता है। जब तक ईश्वर-दर्शन नहीं हो जाता, तब तक लगता है कि हम बहुत दूर के आदमी हैं – दूसरे के बच्चे हैं। साधना की अवस्था में उनसे सब कुछ कहना चाहिए।

– १५३ –

ईश्वर भक्त के अधीन हैं

एक दिन हाजरा ने नरेन्द्रनाथ से कहा – ''ईश्वर अनन्त हैं। उनका ऐश्वर्य अनन्त है। वे क्या कभी मिठाई और केले खायेंगे? या भजन सुनेंगे? यह सब मन की भूल है।'' सुनते ही नरेन्द्र मानो दस हाथ धँस गये।

तब श्रीरामकृष्ण हाजरा से बोले – ''तुम कैसे पाजी हो? अगर बालक-भक्तों से ऐसी बातें कहोगे, तो वे कहाँ ठहरेंगे?'' भक्ति न हो तो आदमी क्या लेकर रहे? उनका ऐश्वर्य अनन्त है, तो भी वे भक्ताधीन हैं।

एक बड़े आदमी का दरवान बाबुओं की सभा में एक ओर खड़ा था। उसके हाथ में कपड़े से ढँकी हुई कोई चीज है। वह बड़े संकोच भाव से खड़ा है। बाबू ने पूछा – ''क्यों दरवान, तुम्हारे हाथ में यह क्या है?' दरवान ने बड़े संकोच के साथ एक शरीफा निकालकर बाबू के सामने रखा। उसकी इच्छा थी कि बाबू उसे खायें। दरवान का भक्तिभाव देखकर बाबू ने बड़े प्रेम से शरीफा ले लिया और कहा – ''वाह ! बड़ा अच्छा शरीफा है। इतना कष्ट करके कहाँ से लाये?''

''वे भक्ताधीन हैं। दुर्योधन ने इतनी खातिर की और कहा, 'महाराज, यहीं जलपान कीजिये।' परन्तु श्रीठाकुरजी विदुर की कुटी पर चले गये। वे भक्तवत्सल है, विदुर का शाकान्न बड़े प्रेम से अमृत समझकर खाया। गीता में भगवान कहते हैं – यदि कोई व्यक्ति मुझे पत्र-पुष्प, जल-फल आदि जो कुछ भी भक्तिपूर्वक अर्पित करता है, उसके उपहार को मैं बड़े प्रेम के साथ ग्रहण करता हूँ।

– १५४ –

ईश्वर का इन्द्रजाल

एकमात्र ईश्वर ही सत्य हैं, बाकी सब अनित्य है। जीव-जगत्, घर-द्वार, बाल-बच्चे – यह सब बाजीगर का इन्द्रजाल है। बाजीगर ढोल पीटते हुए कहता है – ''तू देख तमाशा मेरा, तू देख तमाशा मेरा।'' बस ढक्कन खोलते ही उसमें से कुछ पक्षी निकलकर आकाश में उड़ गये। बाजीगर ही सत्य है, बाकी सब अनित्य – अभी है, थोड़ी देर में गायब।

शिवजी कैलास पर बैठे हुए थे। पास ही नन्दी भी था। तभी कहीं दूर एक बड़ी भयंकर आवाज हुई। नन्दी ने पूछा – ''प्रभो, यह कैसी ध्वनि है?'' शिवजी बोले – ''रावण पैदा हुआ है, यह उसी की आवाज है।'' थोड़ी देर बाद फिर वैसी ही एक आवाज उठी। नन्दी ने पूछा – ''यह कैसी आवाज है?'' शिवजी हँसकर बोले – ''यह रावण मारा गया।''

जन्म और मृत्यु – यह सब इन्द्रजाल-जैसा है। अभी है, अभी गायब ! ईश्वर ही सत्य हैं, बाकी सब कुछ अनित्य है। जल ही सत्य है, उसके बुलबुले अभी हैं, अभी नहीं; बुलबुले पानी में मिल जाते हैं – जिस जल से उनकी उत्पत्ति होती है, आखिरकार उसी जल में वे लीन भी हो जाते हैं। जीव ईश्वर से पैदा होता है और अन्त में उन्हीं में लीन हो जाता है।

– १५५ –

लीला देखने की साध

राक्षसों को मारने के बाद जब श्रीराम लंकापुरी में घुसे, तब रावण की वृद्धा माँ निकषा भागने लगी। इसे देखकर लक्ष्मण ने श्रीराम से कहा – ''भैया, कितने आश्चर्य की बात है ! जिसके वंश में अब कोई भी नहीं रह गया, उसे भी अपने प्राणों का इतना भय है कि भाग रही है !'' श्रीराम ने निकषा को अपने पास बुलाकर उसे अभय देते हुए इसका कारण पूछा। वह बोली – ''हे राम, मैं प्राणों के भय से नहीं भागी थी। मैं इसलिये कुछ दिन बची रहना चाहती हूँ कि अब तक तो मैंने तुम्हारी बहुत-सी लीलाएँ देखीं, जब तक बची रहूँगी, तब तक तुम्हारी और भी न जाने कितनी लीलाएँ देखने को मिलेंगी। इसीलिए मुझे बचने की लालसा है।''

भगवान का दर्शन के बाद भी भक्त उनकी लीलाएँ देखना चाहता है।

नारदीय भक्ति-सूत्र (७)

स्वामी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के बारहवें अध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्द जी ने अपने १० वर्षों के जापान-दौरों के दौरान वहाँ के करीब ७५ जापानी भक्तों के लिये अंग्रेजी भाषा में, प्रतिवर्ष एक सप्ताह 'नारद-भक्ति-सूत्र' पर कक्षाएँ ली थीं। उन्हें टेप से लिपिबद्ध और सम्पादित करके अद्वैत आश्रम द्वारा एक सुन्दर ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया गया है। वाराणसी के श्री रामकुमार गौड़ ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है। – सं.)

यत् ज्ञात्वा मत्तो भवति, स्तब्धो भवति, आत्मारामो भवति ।।६।।

अन्वयवयार्थ – **यत्** – जिसे, **ज्ञात्वा** - जानकर (व्यक्ति) **मत्तः** – उन्मत्त **भवति** – हो जाता है, **स्तब्धो** – मौन **भवति** हो जाता है, **आत्मारामो** – अपनी आत्मा में ही आनन्द लेनेवाला **भवति** – हो जाता है।

अर्थ – जिसे जानकर भक्त मतवाला हो जाता है, जड़ पदार्थ के समान सभी क्रियाओं को छोड़ देता है और अपनी आत्मा में ही आनन्द पाने लगता है।

पिछले सूत्र की सभी बातें नकारात्मक थी, यथा – भक्त द्वेष नहीं करता, उल्लसित नहीं होता, किसी वस्तु को पाने के लिये उत्साहित नहीं होता, आदि आदि। अब इस सूत्र की सारी बातें सकारात्मक है – जिसे जानकर साधक उस आनन्द में उन्मत्तवत् पूर्णतया निमग्न हो जाता है। यह उन्मत्तता या पागलपन पूर्णतया डूब जाने के अर्थ में है। जैसे एक पूर्णत: उन्मत्त व्यक्ति को बाह्य जगत् का बोध नहीं रहता, वैसे ही उपलब्धिवान व्यक्ति उन्मत्तवत् अपने आनन्द में इतना मग्न रहता है कि उसे अपने आस-पास के संसार का कोई भान नहीं रहता।

मान लो कि एक भक्त ईश्वर के लिये उन्मत्त और पागल जैसा हो गया है, तो क्या वह उग्र हो जाता है? बिल्कुल नहीं। वह पूर्ण हो जाता है और इस कारण क्रियारहित होकर जड़ हो जाता है। वह एक जड़ पदार्थ के समान क्यों रहना चाहता है? ऐसा इसलिये कि वह निजानन्द में मग्न हो जाता है अर्थात् उसका आनन्द उसकी आत्मा से आता है। उसका आनन्द न तो किन्हीं बाहरी परिस्थितियों से आता है और न उन पर निर्भर होता है। यह आनन्द उसकी अपनी आत्मा से आता है, अत: यह एक आवश्यक सहज गुण है।

उपनिषदों में इस बात को एक अन्य रूप में व्यक्त किया गया है। जब ऋषि याज्ञवल्क्य ज्ञानमार्ग से बोधप्राप्त व्यक्ति की अवस्था की व्याख्या कर रहे थे कि उस अवस्था में उसे कोई बाह्य ज्ञान नहीं रह जाता, तो मैत्रेयी भ्रमित हो गई और पूछ बैठी – "तो इसे पाने से लाभ ही क्या है?" याज्ञवल्क्य ने समझाया कि बाह्य ज्ञान से रहित अवस्था का क्या अर्थ है। वस्तुओं के बोध में वस्तुएँ महत्त्वपूर्ण हैं और ज्ञान उस पर निर्भर है; परन्तु यह विशेष अवस्था किसी भी वस्तु पर निर्भर नहीं है।

याज्ञवल्क्य ने पुन: मैत्रेयी को यह अवस्था समझाकर उन्हें आश्वस्त किया कि आने-जानेवाले विचारों के रूप में चेतना का नाश हो जाने पर भी विचारों के द्रष्टा का नाश नहीं होता। इसलिये, जब हम ज्ञान की बातें करते हैं, तो यह बाह्य जगत् के सीमित ज्ञान की बात होती है। इस ज्ञान का यहाँ यही अर्थ ध्वनित होता है।

यह भक्तियोग का प्रकरण है, अत: हम वस्तुओं पर एक अन्य दृष्टिकोण से विचार कर रहे हैं। जब भक्त इस अवस्था को प्राप्त करता है, तो उसका आनन्द किसी बाह्य परिस्थिति पर निर्भर नहीं होता और इसीलिये वह शाश्वत होता है। यदि आनन्द किसी बाह्य परिस्थिति पर निर्भर है, तो परिस्थिति के बदलते ही आनन्द भी लुप्त हो जाता है। परन्तु यहाँ आनन्द किसी बाह्य वस्तु पर निर्भर नहीं है, अत: ऐसी कोई शर्त भी नहीं है, जो इसके आनन्द को सीमित कर सके। यह आनन्द बिना शर्त होता है, अत: अविच्छिन्न और असीम होता है। आत्माराम शब्द का यही निहितार्थ है। यदि इस शब्द का उपयोग न होता, तो इसका अर्थ साधारण जड़ता, निष्क्रियता, उदासीनता या पागलपन की अवस्था समझा जा सकता था। अत: इन अर्थों से इसका भेद बताने के लिये ही आत्माराम शब्द का प्रयोग किया गया, जिसका अर्थ है अपनी आत्मा में ही आनन्दित रहना।

भक्त को अपनी ईश्वरानुभूति के आनन्द में पूर्णत: निमग्न रहना है। भक्त को आकृष्ट कर सकनेवाला यह महानतम आकर्षण है। परन्तु यदि यह अवस्था उसे अति प्रिय है और यदि उसके मन में दूसरों के प्रति संवेदना हो, तो स्वाभाविक

रूप से वह उस आनन्द का दूसरों के साथ बाँट कर उपभोग करना चाहता है। वह केवल इसलिये प्रसन्न नहीं है कि उसने अपने लिये वह अवस्था प्राप्त कर ली है, बल्कि इसलिये दुखी है कि दूसरे लोग उसे प्राप्त नहीं कर सके हैं। अत: वह दूसरों को उस अवस्था की अनुभूति में सहायता करने में अपनी शक्ति और समय लगाता है। यद्यपि श्रीरामकृष्ण प्राय: कहते थे कि कोई ईश्वर की ओर जितना ही बढ़ेगा, उसके बाह्य क्रिया-कलाप उतने ही कम होते जायेंगे। तथापि भक्त के साथ सर्वदा ऐसा ही नहीं होता। जब वह सत्य की अनुभूति कर लेता है, तो उसी में निमग्न हो जाता है। यह एक सामान्य प्रकार के लोगों के लिये हैं, पर श्रीरामकृष्ण के मन में एक उच्चतर प्रकार के लोगों का वर्ग भी था, जिनके बारे में वे आम लोगों के सामने नहीं बोलते थे, क्योंकि वे लोग उस स्तर तक पहुँचने की योग्यता नहीं रखते थे। यह केवल कुछ असाधारण लोगों के लिये होता है। सामान्य व्यक्ति के लिये अपनी मुक्ति के लिये चेष्टा ही पर्याप्त है, पर इसे प्राप्त करने में दूसरों की सहायता करना श्रेष्ठतर उपलब्धि है। वह एक महानतर और उच्चतर अवस्था है।

बुद्ध की जीवनी में लिखा है कि निर्वाण-प्राप्ति के बाद वे सात दिनों तक उसी आनन्द में डूबे रहे। उसके बाद ही उन्हें बाह्य जगत् का बोध हुआ। उन्होंने अपने आस-पास जो दुख देखा था, उसी ने उन्हें निर्वाण की खोज में प्रवृत्त किया था, पर निर्वाण-प्राप्ति के बाद वे उसी में इतने तल्लीन हो गये कि वे उस तन्मयता से बाहर नहीं निकल सके और सांसारिक दुखों के विचार भी उनके मन से लुप्त हो गये थे। सात दिनों बाद जब वह तन्मयता सहज हो गई, तो उन्होंने अपने आस-पास वह दुख देखा, जिससे वे पूर्व-परिचित थे। तदुपरान्त उन्होंने दूसरे लोगों को शिक्षा देने का प्रयत्न किया।

इसी प्रकार क्रिया-कलाप शुरू होते हैं। तो भी बोध-प्राप्त और बोधरहित व्यक्ति के क्रिया-कलापों में एक मूलभूत अन्तर है। बोधप्राप्त व्यक्ति के क्रिया-कलाप अपने लिये नहीं, बल्कि दूसरों के लिये होते हैं, जबकि बोधहीन व्यक्ति के क्रिया-कलाप स्वार्थपरक उद्देश्यों से, उसके अपने लिये होते हैं। यह एक मूलभूत अन्तर है।

फिर एक बात और है। यह जरूरी नहीं है कि ज्ञान-प्राप्त व्यक्ति हमेशा ही दूसरों के लिये कुछ कार्य करे। यदि कोई व्यक्ति स्वयं में, उस पूर्णता की अनुभूति में, पूर्णतया तन्मय रहता है, तो वह दुबारा सक्रिय जीवन नहीं भी अपना सकता है। सम्भव है कि वह 'सक्रिय न हो', पर ऐसा नहीं कि उसे 'सक्रिय नहीं होना चाहिये'। चाहे तो वह अपनी अनुभूति से नीचे उतरकर दूसरों की सहायता की चेष्टा कर सकता है या फिर अपनी अनुभूति में ही डूबा रह सकता है। श्रीरामकृष्ण उन लोगों को बेहतर मानते हैं, जो अपनी अनुभूति से नीचे उतरकर दूसरों के लिये कार्य करते हैं। जो व्यक्ति पूर्णता प्राप्त करके बाह्य जगत् के धरातल पर व्यवहार नहीं करता, वह भी प्रशंसनीय है। वह ईश्वरानुभूति रूपी लक्ष्य को प्राप्त करनेवाले व्यक्ति के रूप में समादृत होता है। परन्तु श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि जो दूसरों की सहायता के निमित्त स्वयं को उस पूर्णता के आनन्द से वंचित कर लेता है, वह महानतर व्यक्ति है। मगर सभी लोग उस महानतर श्रेणी के नहीं हो सकते, इसलिये साधक के लिये अपनी मुक्ति हेतु प्रयत्न करना अच्छी बात है। यदि वह वहीं रुक जाता है, तो भी उससे उसका कोई उत्कृष्ट गुण घट नहीं जाता। परन्तु यदि वह दूसरों के लिये स्वयं को उस आनन्द से वंचित कर लेता है, तो वह और अधिक प्रशंसनीय हो जाता है।

ऐसे महात्मा दुर्लभ हैं और उन्हीं के कारण सर्वोच्च आध्यात्मिक आदर्श अब तक बचे हुए हैं। यदि महात्मागण बाह्य जगत् के धरातल पर नीचे उतरकर अज्ञानी लोगों की सहायता न करते, तो ये विचार ही पूर्णत: नष्ट हो गये होते, क्योंकि ईश्वर की अनुभूति-प्राप्त पुरुष या नारी, संसार के लिये इस हद तक मृतवत् हो जाते हैं कि संसार उनका मूल्यांकन ही नहीं कर सकता। जब वे अनुभूति से नीचे आकर लोगों को अपनी अवस्था और उसे प्राप्त करने का मार्ग समझाते हैं, केवल तभी दूसरे लोगों द्वारा ऐसी महान् उपलब्धि की प्रशंसा की जा सकती है, अन्यथा नहीं।

दूसरों के लिये अपने आनन्द का परित्याग करनेवाले और अपनी अनुभूति का प्रयत्न करनेवाले – दोनों ही महान् हैं। तो भी पूर्वोक्त प्रथम श्रेणी के लोग अधिक महान् है। स्वामी विवेकानन्द के जीवन की एक प्रसिद्ध घटना है। स्वामीजी (उन दिनों नरेन्द्र) समाधि का निरवच्छिन्न आनन्द प्राप्त करने के लिये समाधि में डूबे रहना चाहते थे। श्रीरामकृष्ण ने उन्हें फटकार लगाई। उन्होंने नरेन्द्र से कहा – "मैं सोचता था कि तुम एक महत्तर व्यक्ति रूपी एक ऐसे वट वृक्ष बनोगे, जिसकी दूर-दूर तक फैली शाखाओं की छाया में थके-हारे पथिक आकर विश्राम करेंगे।" श्रीरामकृष्ण का तात्पर्य था कि नरेन्द्र जो पीड़ित मानवता को पीड़ा से छुटकारा दिलाने में सहायता करने की जगह, अपने आनन्द में ही डूबे रहना चाहते थे, वह सर्वोत्तम भाव नहीं था। श्रीरामकृष्ण उसी सर्वोच्च स्तर से स्वामीजी का मूल्यांकन करके, उनकी प्रशंसा किया करते थे। स्वामीजी ने भी अपने गुरुदेव के भाव को समझ लिया था और बाद में चलकर उन्होंने स्वयं कहा कि वे तब तक मुक्त होना नहीं चाहते, जब तक अन्तिम बद्ध जीव भी मुक्त नहीं हो जाता। इसीलिये तो वे श्रीरामकृष्ण के योग्यतम शिष्य थे।

❖ **(क्रमशः)** ❖

आत्माराम की आत्मकथा (३४)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने उन्हें संन्यास-दीक्षा प्रदान की थी। भक्तों के आन्तरिक अनुरोध पर उन्होंने बँगला भाषा में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। इसकी पाण्डुलिपि हमें श्रीरामकृष्ण कुटीर, बीकानेर के सौजन्य से प्राप्त हुई है। अनेक बहुमूल्य जानकारियों से युक्त होने के कारण हम इसका क्रमश: प्रकाशन कर रहे हैं। इसके पूर्व भी हम उनकी दो छोटी पुस्तकों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें' तथा 'मानवता की झाँकी' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं – सं.)

चटगाँव में

कुछ दिन फरीदपुर रहकर चटगाँव गया। वहाँ कुछ दिन बल महाशय का अतिथि होकर रहा। फिर पेचिश हो जाने के कारण पथ्य की जरूरत थी। मेरे लिए खाना बनानेवाली वृद्धा थोड़ी मिर्च अवश्य डालतीं, कहतीं – "मिर्च न डालने से स्वाद नहीं आयेगा।" वहीं पर सूर्यदा (क्रान्तिकारी सूर्य सेन) से भेंट हुई। मैंने उनसे कहा था – "जो लोग देश की सेवा करने के लिये अपने ही भाई-बन्धुओं को लूटकर धन-संग्रह करते हैं, उनके इस कार्य को मैं नितान्त हेय मानता हूँ। बहादुरी तो तब होगी, जब अंग्रेज सरकार को लूटकर उन्हीं रुपयों से देशोद्धार का कार्य किया जाय।" चटगाँव आदि का लूट आदि उसके बाद हुआ था। फिर वाराणसी में एक बार और उनके साथ भेंट हुई। तब उन्होंने कहा था – "आपकी उसी बात के अनुसार कार्य चल रहा है।"

सब ठीक चल रहा था। फिर वहाँ से चन्द्रनाथ जाने का निश्चय किया। वहाँ आने का निमंत्रण भी मिल चुका था।

चन्द्रनाथ का स्वर्ण-मृग

चन्द्रनाथ में स्वामी भोलानन्द गिरि के आश्रम में अतिथि हुआ। प्रबन्धकर्ता स्वयं ग्राम से आकर मेरा प्रबन्ध कर गये। मैं और एक लड़का-सेवक रहते। वह कुछ उबालकर मुझे खिलाता और खुद भी भोग लगाता। पन्द्रह-बीस दिन आराम से रहा। खाने की अव्यवस्था के बावजूद चारों ओर वर्षा का जल फैला हुआ था, कानों में मेढ़कों की टर्र-टर्र आवाज आती रहती और स्थान निर्जन था, अत: अच्छा लग रहा था।

तीसरे दिन चन्द्रनाथ-दर्शन को गया – उस दिन वर्षा थोड़ी बन्द हुई थी। सीढ़ियाँ चढ़ रहा था – निर्जन, दोनों ओर बाँसों का घना जंगल, विशेषकर उन बाँसों का जिनसे छत्ते की डण्डी बनती हैं। करीब आधी दूरी तक चढ़ा था, तभी देखा – एक स्वर्ण-मृग, बकरी के बच्चे के आकार का – बड़ी-बड़ी आँखें और शरीर का रंग कच्चे सोने जैसा। अद्भुत ! ऐसा हिरण पहले कभी नहीं देखा था। बहुत भ्रमण किया है – अनेक चिड़ियाघर देखे हैं, पर ऐसे रंगवाला हिरण कहीं नहीं देखा था। सोचा बच्चा ही है, अत: उसे पकड़ने के लिये उस ओर अग्रसर होने लगा। जैसे ही निकट पहुँचा, वह खरगोश की भाँति छलाँग लगाकर २-४ सीढ़ियाँ ऊपर चढ़ गया। मैं पुन: बड़ी सावधानीपूर्वक चढ़ने लगा – वह अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से देखता रहा। मैं जैसे ही पास पहुँचा, वह फिर छलाँग लगाकर दो-चार सीढ़ियाँ चढ़ गया। देखा कि इस युक्ति से काम नहीं होगा। फिर थोड़ा घूमकर सीढ़ियाँ चढ़ने लगा। इस बार वह छलाँग लगाकर सीढ़ियों के पास जंगल में जाकर बैठ गया। चारों ओर घने घास का जंगल था। मैं जंगल में उतरा और ज्योंही निकट पहुँचा, वह और खिसककर बैठ गया। मैं पुन: आगे बढ़ा। सहसा अपने भीतर से कोई जोर की आवाज में बोल उठा – "अरे, यह क्या कर रहा है !" देखा कि जंगल में काफी भीतर आ गया हूँ और चारों ओर से जोंकें चली आ रही हैं। दौड़कर वापस सीढ़ियों पर आ गया। हिरण बैठा-बैठा मेरी तरफ देख रहा था, मानो थोड़े आश्चर्य के साथ ही देख रहा था। सोचा – यदि यह 'मायामृग' ही हो, तो इसने गलत आदमी को ढूँढ़ा है – राम के पास तो सीता थीं, पर अपने राम के पास हरण करने लायक क्या था? – जीवन? उसका हरण तो हो चुका है, वह तो मृत्यु के हाथ में समर्पित ही हो चुका है। इससे उसे कोई भी लाभ नहीं होता। देखा – वह तब भी बैठा है। उसकी माया वहीं छोड़कर चन्द्रनाथ के दर्शन करने गया। लौटते समय रास्ते में पुजारियों से पूछा – उस जाति का हिरण इस पहाड़ पर है या नहीं? उन्हें मालूम नहीं था।

नीचे उतरकर वहाँ के शंकर मठ के संस्थापकों के प्रमुख स्वामी ब्रह्मानन्द जी से भेंट हुई। टीले के ऊपर मठ का एक भवन बन रहा था। सुन्दर दृश्यावली थी, एक पूरी तौर से अलग टीले पर होने के कारण खूब हवादार था और रास्ते का शोरगुल भी वहाँ नहीं पहुँचता था। पूरा बना नहीं था, मात्र एक कमरे पर छत पड़ी थी – वे स्वयं दिखाने ले गये और रात को अपने साथ वहीं रहने का आग्रह करने लगे। राजी हुआ। दोनों ने उसी कमरे में रात्रिवास किया। मानो इसी प्रकार उसका उद्घाटन सम्पन्न हुआ। प्राय: सारी रात धर्म और योग-शास्त्र की चर्चा में बीत गयी। वे हठयोग की क्रियाएँ करते थे। वे मुझसे अपने यहाँ ही रहने के लिए खूब आग्रह करने लगे। तब वे चार-पाँच लोग महन्तजी के मकान में एक ही कमरे में रहते थे और आलू, कुम्हड़ा, लौकी आदि उबालकर खाते थे। एक दिन मुझे भी वही बिना नमक का

उबला हुआ कुम्हड़ा खिलाया। थोड़ा-सा घी भी दिया था। तब (दूसरे संस्थापक) स्वामी नीलानन्द वहाँ नहीं थे।

भोलानाथ गिरि के आश्रम में एक दिन भोजन के बाद बैठा पुस्तक पढ़ रहा था। वर्षा हो रही थी। देखा – दो व्यक्ति कमर तक पानी के अन्दर से आश्रम की ओर चले आ रहे हैं। आश्रम के आंगन में आकर उन्होंने मेरे सामने दण्डवत प्रणाम किया और उठे ही नहीं। मैंने कहा – "उठिए और कहिए क्या चाहिए?" वे कहने लगे – "पहले वचन दीजिये कि जो माँगेंगे वही देंगे, अन्यथा नहीं उठेंगे।" मैंने कहा – "भले आदमी ! मैं क्या कोई षड्-ऐश्वर्य से युक्त भगवान हूँ कि कोई जो भी माँगेगा, दे दूँगा। उठिये और शान्त होइये और उसके बाद बोलिये कि क्या चाहिए। यदि देना सम्भव हुआ, तो देखेंगे।" एक उठकर बैठ गया और बोला – "जी, आपने ठीक कहा। आपको बिना बताये, आप जानेंगे कैसे?" तब दूसरा व्यक्ति भी उठकर बैठ गया।

मैंने कहा – "थोड़ा मुरमुरा आदि खाइये, फिर बातें होंगी।" वे लोग किसी भी तरह राजी नहीं हुए। उनमें से एक बोला – "बिल्कुल नहीं, पहले आप सुनिये, उसके बाद खायेंगे। अन्यथा मेरे प्राण निकल रहे हैं" – यह कहकर वह चीत्कार करते हुए अपनी छाती पीटने लगा। लगा कि वह थोड़ा अधिक ही वायुग्रस्त हो गया है। मैंने भी जिद पकड़ ली – पहले खाये बिना मैं बिल्कुल नहीं सुनूँगा। आखिरकार वे लोग मुरमुरे लेकर खाने लगे।

फिर मैंने उनका परिचय पूछा, जो सुना वह तो बिल्कुल चरम था – "जी, मैं ब्रह्मचारी हूँ और कुमिल्ला के पास एक गाँव में रहता हूँ – वहीं से आपका नाम सुनकर मैं आया हूँ। आपको दया करनी ही होगी, वरना मेरे प्राण निकल जायेंगे।"

मैं – "मेरा नाम आपको कैसे पता लगा? मैं तो इधर का निवासी नहीं हूँ। अभी कुछ दिन हुए यहाँ आया हूँ।"

– "जी, आप हमें बहला नहीं सकेंगे। हेम बाबू ने हमें बताया है कि आपकी दया होने से सारा काम हो जायेगा। आप सुनिये, कृपा करके सुनिये। मैं ब्रह्मचारी हूँ और माँ के साथ गाँव में रहता हूँ। माँ बोली – विवाह करो; गाँववाले बोले – विवाह करो। माँ ने कहा – विवाह न करने से मैं प्राण दे दूँगी। क्या करता ! विवाह करना पड़ा। फिर पूजा करता, पाठ करता और घर में रहता। जी, मजे में ही था। मगर ... मगर, कहते डरता हूँ, मगर मेरा सर्वनाश हो गया।" कहकर वह धाड़े मारकर रोने लगा।

मैंने पूछा – "क्या सर्वनाश हो गया?" (मुझे मन-ही-मन बड़ी हँसी आ रही थी, पर किसी प्रकार रोके हुए था।)

"बड़े दुख की बात है, बड़े दुख की बात है – एक दिन सन्ध्या के समय तालाब में स्नान कर रहा था, सहसा देखा – जटाजूट-मण्डित त्रिशूल-धारी शंकर महादेव ! हाथ जोड़कर प्रणाम करके बोला – 'हे महादेव, प्रणाम करता हूँ, मुझे भय लग रहा है, आज्ञा कीजिये, मैं आपकी शरण में हूँ।' महादेव बोले – 'यदि वर्ष भर में यहीं मेरा मन्दिर न बनवाओ, तो मैं तुम्हारा सर्वनाश करूँगा।'

क्या करता ! लोगों से कहा, किसी ने कुछ भी नहीं दिया – मैं गरीब ब्रह्मचारी, इतने रुपये कहाँ से लाता ! (ऊँ... ऊँ... ऊँ...) मेरा सर्वनाश हो गया, ठीक वर्ष भर बाद सर्वनाश हो गया – एक कन्या को जन्म देने के बाद मेरी स्त्री की मृत्यु हो गई। (ऊँ... ऊँ... ऊँ...) माँ तथा अन्य लोगों ने फिर विवाह करने को कहा। दूसरा विवाह किया है, पर डर लगता है कि शायद इसे भी खोऊँगा। इसीलिए आपकी शरण में आया हूँ। हेम बाबू के पास गया था, यहाँ के जमींदार हैं। सब कुछ सुनने के बाद उन्होंने आपकी बात कही। बोले – वे सब कर सकते हैं, उन्हीं के पास जाओ। इसीलिए आपके पास आया हूँ। दया कीजिये, दया कीजिये।"

सब धैर्यपूर्वक सुनने के बाद मैंने कहा – "शंकरजी ने दुबारा तो कहा नहीं कि सर्वनाश करूँगा। एक बार कहा था, तो एक बार सर्वनाश हो गया। दुबारा कहें, तो डरने की बात है।" उसका दूसरा साथी अभी तक चुप ही बैठा था। मैंने उसकी ओर देखकर पूछा – "आप क्या कहते हैं?" वह – "जी, आपने ठीक ही कहा है।" मैं बोला – "शंकर महादेव हैं, सर्वज्ञ हैं, वे जान-बूझकर ऐसा कठोर आदेश क्यों देंगे ! वे तो जानते ही हैं कि जिसको आदेश दे रहा हूँ, वह निर्धन है, इतने पैसे कहाँ से लायेगा ! और यदि आदेश देंगे भी, तो पैसों का प्रबन्ध भी वे ही करेंगे। सर्वनाश क्यों करेंगे !"

तथाकथित ब्रह्मचारी – "हाँ, सचमुच ही तो ! वे सर्वज्ञ हैं, सब जानते हैं, तो भी भय हो रहा है कि यदि फिर सर्वनाश हो ! (अर्थात् स्त्री की मृत्यु हो।) मैं – "आप एक काम कीजिये। चन्द्रनाथ शिव के पास जाकर कह आइये – एक बार तो सर्वनाश हो गया है, अब फिर से न हो और आप निर्धन हैं, अत: यदि मन्दिर बनवाना हो तो धन का प्रबन्ध उन्हीं को करना पड़ेगा। आप तो जानते ही हैं कि कुबेर उनके भण्डारी हैं। इधर से सब ठीक है, श्मशान में रहने से क्या होगा और माँ लक्ष्मी स्वयं उनकी कन्या हैं ! क्या कहते हैं आप?" साथी ने हँसकर कहा – "यह आपने ठीक कहा है।" मैं बोला – "तो अब और विलम्ब न करके सीधे शिव-मन्दिर जाइये। अभी भी समय है।"

तो भी 'ब्रह्मचारी' उठना नहीं चाहता था, बहुत समझाने पर दर्शनार्थ गया। फिर जितनी जल्दी लौटा उससे लगा कि शायद गया ही नहीं। वहाँ रहने और खाने की असुविधा होने से उसे धर्मशाले में जाने को कहा। वह बोला – "शाम की गाड़ी से चटगाँव जायेंगे। जमींदार हेमबाबू वहीं हैं, पर भाड़ा

नहीं है।'' मैंने कहा – ''मैं संन्यासी हूँ, तुम्हारा किराया कहाँ से लाऊँ?'' साथी बोला – ''यह तो सच है, हम भी समझते हैं, पर क्या करें, पैसे नहीं हैं और चटगाँव जाने पर पैसे मिल सकते हैं।'' मैंने छह आने देकर कहा – ''यह लो और बाकी बाजार में जाकर व्यवस्था कर लो।'' वे चले गये। साथी नाई था, पर ब्राह्मण के रूप में परिचय दिया था।

बेलूड़ मठ में – शिवरात्रि

चन्द्रनाथ में पेट और भी बिगड़ जाने से फिर कोलकाता लौट आया। शिवरात्रि के बाद कलकत्ता छोड़ा था। मठ में शिवरात्रि के दिन केवल कौपीन पहने धूनी के सामने बैठा हिन्दी भजन गा रहा था। **महापुरुष महाराज** ऊपर के कमरे के दरवाजे से कह गये – ''बहुत अच्छा हो रहा है, ठीक हो रहा है, चलाओ, चलाओ।''

हम लोगों का सब कुछ कोलाहल-मय होता है, कीर्तन गलाफाड़-चिल्लाहट और नृत्य कसरत-जैसी होती है। शिवरात्रि पर भी भूतों-जैसा चीत्कार-नृत्य होता है, बाजार में भी क्रय-विक्रय शोरगुल के साथ होता है; स्टेशन में, रास्ते में, गाड़ी में, घर में सामान्य वार्तालाप में भी हम चिल्लाकर बोलते हैं, यद्यपि कलकत्ता से बम्बई जाने पर जमीन-आसमान का फर्क मिलता है – कितना बड़ा बाजार, कितना बड़ा स्टेशन! पर वहाँ गाड़ी में, मकानों में – कहीं भी शोरगुल नहीं है, सब शान्त भाव से, धीमे स्वर में बोलते हुए काम करते हैं। पर हावड़ा स्टेशन पर उतरते ही चारों तरफ शोरगुल सुनाई देता है। बस के खलासी गला फाड़कर चिल्लाते रहते हैं – ''कदमतलाऽ, कदमतलाऽ, शिवपुरऽ, शिवपुरऽ।'' बस के सामने बोर्ड लगा रहता है, तो भी चिल्लाते रहते हैं, इसे कानून द्वारा बन्द करवाना चाहिये। बम्बई में तो ऐसा नहीं होता। वहाँ क्या व्यवसाय नहीं चलता? बिहारी, उड़िया – ये लोग भी बड़ा चिल्लाते हैं, पर बंगालियों के सामने ये भी हार मानते हैं। ये कलकत्ते में आकर बस गये हैं। कुली, मजदूर गाड़ीवान, भंगी, नौकर, रसोइये – सब बिहारी और उड़िया होते हैं। इस कारण वहाँ शोरगुल का बाजार गर्म है। सभी चिल्लाना और शोर मचाना पसन्द करते हैं। कोई एक मिनट भी धीमे स्वर में बात नहीं करेगा। केवल धर्मतला में होटलों के सामने थोड़ा फर्क दिखाई देता है, क्योंकि वहाँ चिल्लाने से पुलिस डाँटती या चाबुक मारती है।

हरिद्वार-कनखल में

शिवरात्रि के बाद हरिद्वार-कनखल गया। इस बार केवल दो दिन सेवाश्रम में रहकर छोटी नहर के किनारे स्थित पंजाबी सत्र के पास एक बगीचे में आसन लगाया। करतल-भिक्षा – माधुकरी से पेट भरता और आनन्दपूर्वक रहता। तब सेवाश्रम के ग्रन्थालय का कोई अस्तित्व न था, केवल एक आलमारी में सौ सवा-सौ पुस्तकें और कुछ पोथियाँ थीं। ब्रह्मचारी देवेन (बाद में स्वामी देवानन्द) ने कहा – ''ग्रन्थालय में यदि कुछ पुस्तकें आ जायँ, तो बड़ा अच्छा हो। पढ़ने लायक कुछ है नहीं। साधु लोग यहाँ आते हैं, उन्हें भी कुछ नहीं दे पाता।'' इधर मेरे पास न पैसे थे, न परिचय; जिसके बल पर कह पाता कि यह काम कर सकूँगा। पहले तो कुछ दैनिक तथा मासिक पत्रिकाएँ मँगवाने के लिए, पुरानी मासिक पत्रिकाओं के विज्ञापन वाले पन्नों को यत्नपूर्वक निकालकर सेवाश्रम के बनिये को आठ आने में बेचकर, उससे पोस्टकार्ड खरीदकर पत्र लिखे गये – 'वसुमती', 'आनन्द-बाजार-पत्रिका', 'अमृत-बाजार' 'Independence', 'Servant', 'Bengali', 'Social Reformer', 'Tribune', 'Hindu', 'विश्वामित्र' आदि से बड़े अच्छे उत्तर मिले। प्राय: सभी नि:शुल्क देने को राजी हुए। हिन्दी, अंग्रेजी तथा बँगला की करीब २०-२२ दैनिक, साप्ताहिक, मासिक तथा त्रैमासिक पत्र-पत्रिकाएँ आने लगीं। बड़े स्वामीजी बड़े प्रसन्न हुए। बोले – ''बहुत-सी पत्रिकायें देख रहा हूँ, कहाँ से मिला इतना पैसा?'' उनको बताया कि कैसे मँगाया गया। वे बड़े आश्चर्यचकित होकर बोले – ''अच्छा! सचमुच?'' देवेन तभी एक बड़ी मेज और एक आलमारी माँग बैठा। यह निश्चय हुआ कि यह संन्यासियों के लिए नि:शुल्क पुस्तकालय होगा और रिपोर्ट में नियमित रूप से हिसाब दिया जायेगा। उस समय पोस्टकार्ड एक पैसे में आता था और अब पत्र लिखने के पैसे का अभाव नहीं रहा। पुराने अखबारों को बेचकर पैसे मिल जाते और पोस्टकार्ड पर प्रकाशकों तथा लेखकों को पत्र लिखता। केवल एक जन को लिफाफे में भेजा था – वे थे जस्टिस सर जॉन वुडरोफ।

काफी पुस्तकें मिलीं। एक-दो महीने के भीतर ही करीब ४२५ पुस्तकें मिल गईं। बड़े स्वामीजी ने दवाखाने से एक पुरानी आलमारी दिलवाई। सर जदुनाथ सरकार ने अपनी दो पुस्तकें – 'शिवाजी' तथा 'औरगंजेब' आनन्द-बाजार-पत्रिका के ऑफिस से मँगवा लेने को लिखा। सर वुडरोफ बड़े सज्जन थे। मेरा पत्र मिलते ही लिखा कि वे अपने मद्रास के प्रकाशक को आदेश दे चुके हैं कि उनकी लिखी सब पुस्तकें भेज दी जायें। और यदि कोई स्टॉक में न हो, तो उसे नोट करके छपने के साथ ही भेजा जाय। एक और पत्र लिखकर उन्होंने मिशन के सारे केन्द्रों का पता पूछा। उनकी इच्छा थी कि सभी केन्द्रों को अपनी पुस्तकों का एक-एक सेट देंगे। तभी पूजनीय सुधीर महाराज (शुद्धानन्दजी) कनखल आये। उनसे पूछकर मिशन से संलग्न तथा असंलग्न सभी केन्द्रों की एक तालिका तथा पते तैयार कर उनको भेज दी। सुधीर महाराज ने 'विवेकानन्द सोसाइटी' का भी नाम लिख देने को कहा था। सर वुडरोफ के आदेशानुसार उनके प्रकाशक ने सभी जगह पुस्तकें भेजी थी, पर अपने भ्रमणकाल में जाकर

देखा कि कहीं भी सब किताबें नहीं भेजी थी और यह जानकर लज्जित भी हुआ कि पुस्तकें पाकर किसी ने भी धन्यवाद-पत्र भेजने का कष्ट नहीं किया था। इस तरह अनेक पत्र-पत्रिकाओं तथा पुस्तकों से समृद्ध होकर ग्रन्थालय खूब जम गया।

अभेदानन्दजी का आगमन

पूज्य सुधीर महाराज (शुद्धानन्दजी) के चले जाने के बाद पूज्यपाद काली महाराज (अभेदानन्दजी) कश्मीर, तिब्बत, लद्दाख आदि भ्रमण करके वहाँ आये। उनके साथ बातचीत करने को कोई नहीं था, अत: बड़े स्वामीजी ने मुझे ही इस काम में लगाया। शाम को उनके साथ घूमने जाता और बातें करता। मुझे सेवाश्रम में ही भिक्षा करने को कहा गया।

एक दिन उन्होंने स्वयं ही सबका एक सामूहिक फोटो निकाला। प्रसिद्ध त्यागी साधु बाबा मथुरादास को मैंने खूब समझा-बुझाकर पूर्ण नग्नावस्था में कुर्सी पर बिठाया। इधर पूज्यनीय निश्चयानन्दजी शौचालय में घुस गये और किसी भी तरह बाहर नहीं आ रहे थे और किसी को उनके पास जाने का साहस नहीं हो रहा था – मुझे ही बार-बार जाना पड़ रहा था – वे फोटो खिंचवाने के कट्टर विरोधी थे और कभी खिंचवाया भी नहीं था। पूज्य काली महाराज उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। वे बोले – "जाओ, पकड़कर ले आओ।" वे अन्दर ही बैठे हँसते रहे, बाहर नहीं आये। उधर थोड़ी स्थिति बदलने को ज्योंही इधर-उधर हुआ, मथुरादास बाबा चुपचाप उठकर चल दिये। बहुत दिनों बाद अमेरिका की फॉक्स-बहनों ने चोरी से पूज्य निश्चयानन्दजी का एक फोटो लिया था। पूज्य गुरुदास महाराज के पास उसकी प्रतिलिपि है।

एक दिन शाम को भ्रमण के समय पूज्य काली महाराज ने मुझे बुलाया। कई तरह की बड़ी सुन्दर बातें हुईं – खास कर 'भारतीय नारी का समाज में स्थान और अधिकार' विषय पर। बाद में उन्होंने दो जन को ब्रह्मचर्य और दो को संन्यास की दीक्षा दी। यह बड़े स्वामीजी के कारण ही हुआ। उन लोगों की इच्छा थी और उन्होंने मठ जाकर महापुरुषजी से इसके लिये अनुमति भी ले ली थी। वहाँ जाने में खर्च आदि होता, अत: सुविधा की दृष्टि से महापुरुषजी को पत्र लिखकर उन्होंने वहीं व्यवस्था कर ली थी। घटनाक्रम से मुझे ही आचार्य का काम करना पड़ा। ऋतानन्द आदि उसी टोली के है। इसके बाद ही पू. काली महाराज बेलूड़ चले गये।

बाबा मथुरादास की कुछ बातें

इसी प्रसंग में त्यागी संन्यासी बाबा मथुरादासजी की दो-चार प्रसंग लिख रहा हूँ, (यद्यपि ये सभी एक समय में ही नहीं हुई थी)। वे शायद उदासी सम्प्रदाय के साधु थे – नाम से ऐसा ही लगता है।

(१) एक दिन शाम को ग्रन्थालय की पुस्तकों में नम्बर आदि लगा रहा था – शायद देवेन और एक नये ब्रह्मचारी उपस्थित थे। बाबा मथुरादास आकर रोज की भाँति ग्रन्थालय के बाहर – बेंच पर बैठकर केले के पत्ते को चिलम जैसा बनाकर तम्बाकू पी रहे थे। अपने आप में मग्न थे और पास में कोई भी न था। सहसा किसी प्रसंग में मैंने ब्रह्मचारियों से कहा – "यही ठीक साधुभाव है, पूर्णत: स्वाधीन, किसी की परवाह नहीं। किसी की जरूरत नहीं – निरालम्ब। यथेच्छा विचरण करते हैं, कोई बन्धन नहीं। यथाप्राप्त आहार से पेट भरते हैं, आनन्द में हैं, निर्भय हैं – वस्त्र या किसी अन्य वस्तु के लिये गृहस्थों पर निर्भर नहीं हैं, किसी की परवाह नहीं करते, यही ठीक-ठीक साधु जीवन है – ऐसा नहीं होने से आनन्द नहीं मिलता। (वे पूर्णत: नग्न रहते हैं – काफी यात्रा करते – किसी आश्रम या आश्रय में नहीं रहते, उन दिनों रात में वे प्राय: सतीकुण्ड के पास एक पेड़ के नीचे घास में लेटे रहते। सदा निजानन्द में मग्न रहते और दुनिया की ओर कोई ख्याल नहीं था। बड़ा अच्छा जीवन है!"

वे बाहर बैठे-बैठे चुपचाप यह सुन रहे थे। (बहुत वर्ष पूर्व श्रीरामकृष्ण के जीवन काल में एक बार गंगासागर की यात्रा से लौटते समय वे बंगाल में जगन्नाथ घाट पर कुछ दिन थे। उसी समय सुन-सुनकर उन्हें बँगला का ज्ञान हुआ था – अधिकांश समझ सकते थे, बोल नहीं सकते थे।

फिर थोड़ा हँसकर बोले – "अरे, ऐसा न करना। जान-बूझकर बलपूर्वक वस्त्र आदि त्यागना या कठोरता करना ठीक नहीं। यह सब जब अपने आप हो, तभी अच्छा है।"

मैंने कहा – "पर महाराज, आपने तो स्वेच्छा से किया है।" वे फिर हँसकर बोले – "एक अवस्था के बाद स्वयं ही छूट गया। फिर दुबारा वह बोझ क्यों उठाता? तब उत्तरकाशी की एक गुफा में रहता था। अपनी देह का कोई होश नहीं था। एक निर्मल सन्त ने बहुत सेवा की थी। भिक्षा में दूध लाकर जबरदस्ती मेरे मुँह में देता। मुझे कोई होश नहीं था। सर्दी से पूरा शरीर फट गया था और खून निकलता था। वे साधु भिक्षा से घी-मक्खन लाकर मेरे शरीर पर मालिश करते। फिर मुझे थोड़ा होश आने पर उत्तरकाशी में गंगा के किनारे ले जाकर एक शिव-मन्दिर में रखा था। उन्हीं दिनों बम्बई के एक सेठ-सेठानी तीर्थ के लिये गंगोत्री जा रहे थे, उन्होंने मुझे देखा, तब साधु घी की मालिश कर रहे थे। साधु से सब सुनकर वे गंगोत्री न जाकर यहीं ठहर गये और कहा – यही हमारा द्वारका है, यही हमारा तीर्थ है और वे दोनों हर रोज घण्टे, दो घण्टे घी की मालिश करते। खूब घी में तला भोजन कराते। इस प्रकार दो-ढाई महीने बाद घाव सूख गये और रक्त निकलना बन्द हो गया। उसके बाद से ठण्डी-गर्मी का बोध नहीं रहा। इसलिए कहता हूँ – जबरदस्ती कुछ भी करना ठीक नहीं। नागा की तरह अभिमान होगा। फिर तुम लोगों का यह मार्ग भी नहीं है। यदि अपने-आप हो सके, तो

अच्छा होगा।'' – यह कहकर वे चले गये।

वे कभी भी, विशेषकर अपने जीवन के बारे में बातें नहीं करते थे। बड़े तथा छोटे स्वामीजी को यह प्रसंग बताने पर, वे बड़े विस्मित होकर बोले – क्या कहते हो? यह तो समाधि स्थिति की बात कही है, निर्विकल्प समाधि की ! तुम थोड़ी चेष्टा करके देखना और कुछ बताते हैं क्या?''

(२) एक अन्य दिन, जब मैं घण्टा-कुटीर में रहता था, एक साधु के साथ 'वेदान्ती की निर्भयता' पर चर्चा चल रही थी – सच्चा वेदान्ती निर्भीक होता है। बाबा मथुरादास गंगा-स्नान करके उधर आये और हँसकर पूछा – ''क्या बातें हो रही हैं?'' मैंने बताया। वे हल्के से मुस्कुराकर कहने लगे – ''एक मजे की घटना सुनो। उन दिनों बिल्वकेश्वर में रहता था। तब वहाँ घना जंगल था। बाघ आदि रहते थे। पुजारी दिन में एक बार आकर चला जाता। मैं वहाँ मस्त रहता था और प्राय: आँवले खाकर ही रहता था। मन्दिर में आँवले के दो बड़े-बड़े पेड़ थे, जिन पर बड़े-बड़े आँवले लगते थे। एक दिन ठीक संध्या-पूर्व एक जवान पंजाबी सन्त उपस्थित हुए और मुझसे पूछा – 'आसन लगा सकते हैं क्या?' मैंने कहा – 'मौज से लगाइए।' फिर पूछा – 'रात में खाने की क्या व्यवस्था है?' वे भूख से आकुल थे। मैंने उन्हें आँवले का पेड़ दिखा दिये। उन्होंने कहा – 'यह नहीं चलेगा? आप मेरा सामान सँभालना, मैं भिक्षा करके आता हूँ।' मैंने कहा – 'मौज से जाओ।' उनको लौटने में काफी रात हो गई, वैसे चाँदनी रात होने से चलने में कोई असुविधा नहीं हुई थी। आकर पास में ही लघुशंका के लिए बैठे। इतने में देखा – एक बाघ बैठा है। – 'दौड़ो, दौड़ो, बाघ, बाघ' – चिल्लाते हुए दौड़कर कोठरी में घुसकर दरवाजा बन्द कर लिया। मैं यह काण्ड देखकर खूब हँस रहा था। वे क्रोधित होकर बोले – 'तुम कैसे साधु हो ! मैंने तो सोचा था कि तुम महात्मा हो, पर देखता हूँ तुम एक दुष्ट हो, दुरात्मा हो, बाघ के मुख से बाल-बाल बच गया। और तुम, कहाँ तो मेरी सहायता करते, उसकी जगह हँसे जा रहे हो। यह क्या साधु का काम है?' और भी भला-बुरा करते रहे। मैं चुपचाप सुनता रहा।

''सुबह उठकर हाथ-मुँह धोने के बाद वे आकर बोले – 'कल रात आपको बड़े कड़े शब्द कह गया हूँ, वैसा कहना अनुचित था, कुछ ध्यान मत देना। मगर इतना याद रखियेगा कि कोई विपत्ति में पड़े तो साधु को दौड़कर उसकी सहायता करनी चाहिये, इस प्रकार हँसना उचित नहीं।'

मैंने चुपचाप सुन लिया, फिर कुछ देर बाद देखा – वे 'विचार-सागर' ग्रन्थ पढ़ रहे हैं। तब मैंने उनसे पूछा – 'क्या आप वेदान्ती है।' उन्होंने हामी भरी। – 'अच्छा ! तो आप वेदान्ती हैं !' ऐसा कहते ही वे समझ गये और दौड़ते हुए आकर मेरे पैर पकड़कर क्षमा-याचना करते हुए कहने लगे – 'क्षमा कीजिये। क्षमा कीजिये। वेदान्ती तो आत्मा की जन्म-मृत्यु नहीं मानते। सबके भीतर वह एक ही आत्मा निवास करती है। जो उस बाघ के भीतर है, वही इस शरीर में भी है। तो कौन, किससे और क्यों भय करेगा?'

(३) जाड़े के दिन थे। बाबा मथुरादास उन दिनों सतीकुण्ड के किनारे जंगल में एक पेड़ के नीचे रात्रिवास करते थे। एक दिन सुबह खबर आयी कि सतीकुण्ड के पास के नये आश्रम पर कल रात डकैती पड़ी है। वहाँ के वृद्ध दण्डी साधु को मारा-पीटा गया है, बेहोश पड़े हैं। उन वृद्ध साधु का कलकत्ते के मारवाड़ी समाज में खूब मान था और उन्हीं की सहायता से यह नया आश्रम स्थापित किया था। उद्देश्य था – साधक-सन्त और महात्मा वहाँ रहकर साधन-भजन करेंगे और भिक्षा उसी आश्रम से मिलेगी, पर इतने दुर्मुख थे कि कोई भी ज्यादा दिन नहीं टिक पाता था। उन दिनों वे अकेले ही थे। अफवाह थी कि डाकू करीब बीस हजार रुपये ले गये हैं। बड़े स्वामीजी के मना करने के कारण सेवाश्रम से कोई भी देखने नहीं गया। मैं तब ज्वर से पीड़ित होकर सेवाश्रम में था। प्रिय महाराज (स्वामी परमात्मानन्द) ऋषिकेश से पेचिश से पीड़ित होकर आये थे। हम दोनों पुस्तकालय के बड़े कमरे में रहते थे। हम दोनों बैठकर उस डकैती – साधु द्वारा इतना नकद धन रखने के बारे में चर्चा कर रहे थे। इतने में बाबा मथुरादास आये और ग्रन्थालय के बाहर आकर बैठे। उनको चिलम लाकर दिया। वे चिलम पीते और हँसते – छोटे स्वामीजी तब एक नये भवन के कार्य में व्यस्त थे। किसी काम से बाहर आकर जब उन्हें बाहर बैठे देखा, तो बोले – ''अब सतीकुण्ड में मत रहिये। देखिये, डकैतों ने एक साधु को मार डाला, सब लूट लिया। आप उस समय कहाँ थे?'' बाबा मथुरादास – ''अरे, कल बड़े मजे की बात हुई। मैं उस पेड़ के नीचे लेटा था, देखा – कुछ लोग बहुत -सा सामान लेकर आये। सबके हाथों में भाला, बन्दूक और मशाल थी। शायद वे ही लोग डकैती करके वहाँ बँटवारा करने आये थे। मुझे देखकर दो लोगों ने मेरे पास आकर पूछा – 'तू कौन है?' मैं क्या जवाब देता? – 'बोलो?' दो-तीन बार पूछने पर जब कोई जवाब नहीं मिला, तो मेरे गालों पर थप्पड़ लगाकर चले गये। देखो माया का खेल।''

यह कहकर जोरों से हँसने लगे। मैं खड़ा-खड़ा सुन रहा था। मैंने पूछा – ''आपको मारा और आपको क्रोध नहीं आया।'' बाबा मथुरादास – ''अरे, किस पर क्रोध होगा? मारा – सब माया का खेल है।'' मैंने कहा – ''जब आपसे पूछा – 'आप कौन हैं' – तब बताया क्यों नहीं।'' बाबा मथुरादास – ''अरे, मैं कौन हूँ? क्या कहता?''

यह कहकर वे दौड़कर चले गये। छोटे स्वामीजी बोले – ''देखा, ये ठीक-ठीक वेदान्ती साधु हैं।'' ❖ **(क्रमशः)** ❖

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

५८. निर्मल गहिये, निर्मल रहिये

एक बार एक व्यक्ति ने सन्त रामानन्द से प्रश्न किया – "सभी साधु-सन्त कहते हैं कि पापी मनुष्य अगर अपने किये पर पश्चात्ताप करे तो उसके सारे पाप धुल जाते हैं। मगर मैं अब तक यह समझ नहीं पाया कि पश्चातापों से सारे पाप कैसे धुल जाते हैं।" रामानन्द जी बोले – "आओ, हम आगे चलें, शायद आपके प्रश्न का उत्तर हमें मिल जाये।" दोनों कुछ दूर आगे गये ही थे कि उन्हें दूर से बड़ी दुर्गन्ध आने लगी। रामानन्दजी ने उस व्यक्ति से कहा – "जाकर देखो कि यह दुर्गन्ध कहाँ से आ रही है।" वह व्यक्ति जब आगे गया, तो उसे एक गड्ढा दिखाई दिया, जिसमें गन्दा पानी इकट्ठा हो गया था। उस गन्दे जल को आगे जाने का मार्ग न मिलने के कारण उसी डबरे से दुर्गन्ध आ रही थी। उसने लौटकर सन्त रामानन्द को बताया – "सामने एक डबरा है, जहाँ का पानी रुक जाने से उससे दुर्गन्ध आ रही है।" तब रामानन्द जी ने उससे कहा – "हमारे मन के पाप भी जब एक स्थान पर रुक जाते हैं, तब पश्चाताप ही उनका मार्ग उन्मुक्त कर सकता है – पश्चात्ताप ही अन्त:करण को निर्मल बना सकता है। पश्चाताप बाह्य रूप में नहीं, बल्कि अन्दर से व्यक्ति को पाप से विमुख करता है। पश्चाताप से 'मैं' और 'मेरापन' चला जाता है। पश्चाताप मनुष्य को 'अहं' के स्थान पर यथार्थ 'तत्त्व' का बोध कराता है, इससे उसकी सत्प्रवृत्तियाँ जाग्रत होती हैं, जो उसे पाप कर्म से रोकती हैं।"

५९. तनिक मान मन में नहीं, सबसों सरल स्वभाव

लंका विजय के बाद एक बार सीताजी के मन में प्रश्न उठा कि हनुमानजी में इतना बल कहाँ से आ गया कि श्रीराम तक को उनकी सहायता की जरूरत पड़ गयी। एक दिन उन्होंने हनुमानजी से पूछ ही लिया – "बजरंग बली, मैं अब तक यह समझ न पाई कि तुमने यह बल, यह सामर्थ्य कहाँ से पायी कि तुम दूर तक फैले अथाह समुद्र को लाँघने में सफल हुये। फिर विशाल द्रोणगिरि पर्वत को सहजता से उठाकर तुमने लक्ष्मण की जान बचाई। रावण जैसे महा-पराक्रमी राजा की भी तुम्हारे सामने कुछ न चली। तुमने न केवल उसकी लंका को तहस-नहस कर डाला, बल्कि उसकी सेना में खलबली भी मचा दी।" केसरीनन्दन ने शंकित हो पूछा – "माँ, कहीं आप मेरा कौतुक तो नहीं कर रही हैं ! आपने मेरा जो गुणगान किया, उसका तो मैं किंचित् मात्र भी पात्र नहीं हूँ। श्रीराम की भक्ति ही मेरी शक्ति है। मैं तो केवल निमित्त भर हूँ। मेरे द्वारा जो भी कार्य हुये, उन सबका सारा श्रेय श्रीराम को ही जाता है।"

सीताजी बोलीं – "यह तो तुम्हारी विनय है, आंजनेय, तुमने सदैव ही नम्रता को अपनाया। सारे कार्य अपने बलबूते पर करके भी सारा श्रेय तथा मान तुमने दूसरों को दिया। तुमने अपना बड़प्पन कभी नहीं दिखाया। अपने इस सहज सरल स्वभाव के कारण ही तुम श्रीराम के प्रिय पात्र हो।"

६०. सबसे लघुताई भली

भगवान बुद्ध के शिष्य आनन्द ने एक बार उनसे डरते-डरते पूछा – "प्रभो, प्रवचन देते समय आप तो उच्च आसन पर बैठते हैं, परन्तु श्रोताओं को नीचे बैठकर श्रवण करना पड़ता है। क्या यह गुरु-शिष्य में भेद उत्पन्न नहीं करता !"

बुद्धदेव ने मुस्कुराकर कहा – "आनन्द, क्या तुमने कभी झरने का जल पिया है?" आनन्द ने उत्तर दिया – "हाँ, अनेकों बार।" तब तुमने देखा नहीं कि जल ऊपर से नीचे गिरता है और पथिक को नीचे रहकर ही उसे पीना पड़ता है ! मान लो, तुम किसी पहाड़ी पर खड़े हो और यदि वही से नीचे बह रही नदी का जल पीने की इच्छा करोगे, तो क्या तुम्हारी इच्छी पूरी होगी? नहीं, न ! इसका कारण यह है कि नीचे रहकर ही किसी भी वस्तु को प्राप्त किया जा सकता है। जिस व्यक्ति ने नीचे रहने का, विनम्र रहने का पाठ समझ लिया है, वह उस विशाल सागर जैसा हो जाता है, जिसमें ज्ञान एवं प्रेम की सरितायें मिलकर स्वयं को न्यौछावर कर देती हैं। परन्तु इसके लिये उन्हें नीचे की ओर बहना पड़ता है। गुरु भी इसलिये उच्चासन पर बैठते हैं कि उन्हें शिष्यों को ज्ञानामृत प्रदान करना है। शिष्यों को देना होता है। शिष्य नीचे रहकर – अहंभाव को त्यागकर, विनम्र रहकर ही उसे ग्रहण कर सकता है। यदि शिष्य इसके विपरीत उच्चासन पर बैठकर ही ज्ञानामृत का पान करना चाहे, तो उसका अहं ही उसे वंचित कर देगा। आनन्द, हमेशा लघुता का अनुभव करो। ऊँचा उठने के लिये व्यक्ति को सदैव नीचा, नम्र तथा विनीत रहना चाहिये। उच्च स्तर तक वही पहुँच सकता है, जो प्रतिक्षण, प्रतिपल अपने को, अपने मन-बुद्धि को उच्च स्तर पर ले जाने का प्रयास करता है।"

ईशावास्योपनिषद् (५)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने वर्षों पूर्व रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सत्संग-भवन में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन पूना की सीमा माने ने किया तथा वक्ता की पूर्ण सहमति से इसका सम्पादन एवं संयोजन स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने किया है।)

इस पूर्ण का ज्ञान, इसका अनुभव हमारे लिये बहुत उपयोगी है। इस इशोपनिषद के प्रथम मन्त्र ने जगत् के सत्य को हमारे सामने रखा है। यह पूर्ण है, यही ऋषियों का अनुभव है। इदं को देखा तो अद: की कल्पना होती है। This को देखो तो That की भी कल्पना होती है। वह कहा तो यह का भी हमें भान होता है। अत: ऋषियों की अनुभूति है, यह पूर्ण है। इस यह की अनुभूति ज्ञानियों को होती है। हम हैं, हमारे अस्तित्व का हमें ज्ञान है। उपनिषद हमें बताता है कि जिस अस्तित्व का तुम्हें बोध हो रहा है, वह भी पूर्ण है। यदि यह धारणा भी मन में एक बार दृढ़ हो जाय, तो इस बौद्धिक धारणा से भी बहुत-सी आसक्तियाँ जो हमें जीवन में बाँधकर रखी हैं, अपने आप छूट जायेंगी। जब यह लगेगा कि कितनी तुच्छ बातों में हम फँसे हुये हैं, हमें तो उसी पूर्णता की धारणा और अनुभूति का प्रयास करना चाहिये। किन्तु यह एक-दो दिन में नहीं होता। इसको निरन्तर सोचना चाहिये। हमने इसके उल्टी स्मृति का अभ्यास किया है। करोड़ों जन्मों से हमने मान लिया है कि हम अपूर्ण हैं, हमसे कुछ नहीं होगा। इदं क्या है मालूम नहीं, मैं शरीर हूँ, मन हूँ, बुद्धि हूँ, इस तरह की उल्टी धारणा हमने मान रखा है। इसलिये श्वेताश्वतर उपनिषद कहता है कि अपने आपको जानो। हमने तुम्हें सत्य की, पूर्ण की पहचान दे दी है।

अपूर्ण क्या है? जो भी परिवर्तनशील है, जिसमें भी अभाव का बोध है, वह अपूर्ण है। जीवन में जहाँ-कहीं भी अभाव का बोध हो रहा हो, परिवर्तन का बोध हो रहा हो, उसको छोड़ना चाहिये। जिस परिवर्तन का, अपूर्णता का हम बोध कर रहे हैं, उसके पीछे एक अपरिवर्तनीय सत्ता है। उस सत्ता के अस्तित्त्व के बिना परिवर्तन का बोध कभी नहीं हो सकता। एक गाड़ी सौ किलोमीटर की गति से चल रही है और दूसरी पचास किलोमीटर की गति से चल रही है। इसमें हम परिवर्तन का बोध कर सकते हैं। दोनों गाड़ियाँ सौ किलोमीटर की गति से चल रही हैं, तो हम गति का बोध नहीं कर सकेंगे। वैसे ही जीवन में हमें परिवर्तन का बोध जो हो रहा है, वह हमारे अन्दर जो अपरिवर्तनीय सत्ता है, उसके कारण परिवर्तन का बोध हो रहा है। पाँच वर्ष की आयु में 'मैं' हूँ ऐसा कहने वाला पैसठ वर्ष की आयु में भी कहता है 'मैं' हूँ। पाँच से पैसठ वर्ष के काल में सारे परिवर्तनों को जिसने देखा, किन्तु जो स्वयं अपरिवर्तनशील है उसका ही नाम इदं है, वही 'यह' है।

अब तक हमने यह देखा है कि विभिन्न इन्द्रियों द्वारा जो ज्ञान हमको होता है, उस ज्ञान को एक करने वाला कोई तत्त्व है। हम कानों से सुनते हैं, आँखों से देखते हैं, नाक से सुगन्ध लेते हैं, ये अलग-अलग हैं, किन्तु इन सबको मिलाकर यह संसार क्या है, इसका हमें ज्ञान होता है। इन सबको एक करने वाला तत्त्व जो हमारे भीतर है, वही तत्त्व हमको इस संसार का ज्ञान दे रहा है। हमने देखा कि शान्ति-मन्त्र में जो जगत् हमको दिख रहा है, यह भी पूर्ण है और जहाँ से यह आया है वह भी पूर्ण है। इसलिये इस जगत् को देखने की अपनी दृष्टि बदलो। इस जगत् के प्रति हम कैसी दृष्टि रखें?

ईशावास्योपनिषद का प्रथम मन्त्र हमको इसकी सूचना देता है। इस प्रथम मन्त्र में तत्त्व का निरूपण और साधना की पद्धति है। दोनों बातें इस एक मन्त्र में बता दी गयी हैं। सन्त गण कहते हैं, बाकी सत्रह मन्त्रों इस प्रथम मन्त्र का ही विस्तार है। जब हम इस प्रथम मन्त्र का अध्ययन करते हैं, तो कुछ मौलिक बातों को भी देखना पड़ता है। यह प्रथम मन्त्र है –

ॐ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ।।१।।

इसका शब्दार्थ है – इस संसार में जो कुछ भी है, वह सब कुछ ईश्वर से परिपूर्ण है। उसका त्यागपूर्वक भोग करो और किसी के भी धन का लोभ मत मत करो।

सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् – यह सारा संसार, जो हमें दिखता है, जिसका हमें इन्द्रियों द्वारा अनुभव होता है, वह जगत् है और वह गतिशील है। इस विश्व-ब्रह्माण्ड में जो भी गतिशील है, परिवर्तनशील है, इदं सर्वं – यह सब कुछ, ईशावास्यं – ईश्वर से आच्छादित है, ईश्वर से परिपूर्ण है। इसलिये 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा'– उसका त्यागपूर्वक भोग करो। 'मा गृध: कस्य स्विद्धनम्' – धन किसका है? इसका लोभ मत करो। किसी और के अथवा अपने स्वयं के धन का भी लोभ मत करो। यह इस मन्त्र का सरल शब्दार्थ है।

इसकी व्याख्यायें विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न रूप से की है। भगवान आदि शंकराचार्य कहते हैं कि यह प्रथम मन्त्र

संन्यासियों के लिये है, जो लोग सब कुछ त्यागकर, सब कर्मों का त्याग करके साधना करने के लिये केवल ब्रह्मचिन्तन में बैठे हैं। एक दृष्टि से यह ठीक लगता है। किन्तु स्वामी विवेकानन्द, श्री अरविंद और कुछ आचार्यों का कहना है कि उपनिषदों के तत्त्व सबके लिये हैं। चाहे वह संन्यासी हो या गृहस्थ, जो भी व्यक्ति आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करना चाहता है, उसके लिये यह उपनिषद है। उच्च आध्यात्मिक जीवन बिताने के लिये जिस तत्त्व की आवश्यकता है, उस तत्त्व का प्रतिपादन इस प्रथम मन्त्र में है। इस मन्त्र में तीन बातें विशेष रूप से दिखाई देती हैं –

१. यह संसार क्या है और कैसा है? ऋषि कहते हैं, ईशावास्यम् – यह संसार ईश्वर से परिपूर्ण है। 'संसरति इति संसारः' – निरन्तर परिवर्तित होने वाली वस्तु ही संसार है। जो कुछ है वह सब ईश्वर से आच्छादित है।

२. जब हम संसार में रहते हैं, तो हमें व्यवहार भी करना पड़ता है। इस जगत्-व्यवहार को यहाँ भोग कहा गया है। यदि संसार में रहना है, व्यवहार करना है, तो कैसे करें? 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' – उसका त्यागपूर्वक भोग करें। जो कुछ इस परिवर्तनशील संसार में दिख रहा है, जिसको तुम्हें छोड़ना पड़ेगा, उसे स्वेच्छा से छोड़ते हुये, उसका त्यागपूर्वक भोग करो।

३. मा गृधः कस्य स्विद्धनम् – अपने धन का और किसी दूसरे के धन का लोभ मत करो।

अब इन तीनों बातों पर सविस्तार विचार करने के बाद आचार्य शंकर ने जो बात कही है कि यह मन्त्र सिर्फ संन्यासियों के लिये है, उस पर हम विचार करें। स्वामी विवेकानन्द, श्री अरविंद, स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती आदि आचार्यों ने कहा कि हम आचार्य शंकर के मत का सम्मान तो करते हैं, किन्तु यह मन्त्र उन सभी के लिये है, जो उच्च आध्यात्मिक जीवन बिताना चाहते हैं। उसकी पहली शर्त क्या है? कौन व्यक्ति आध्यात्मिक जीवन बिताने का अधिकारी है? श्रीरामकृष्णदेव ने कहा है कि मनुष्य जीवन का उद्देश्य है 'ईश्वरप्राप्ति' या वेदान्त की भाषा में कहें तो 'आत्मसाक्षात्कार' करना। जिस व्यक्ति ने दृढ़तापूर्वक यह निश्चय कर लिया है कि मेरे जीवन का उद्देश्य 'ईश्वर-प्राप्ति' या 'आत्मसाक्षात्कार' ही है और उसके लिये मैं आजीवन प्रयत्न करूँगा, उसी व्यक्ति के लिये ये गीता, रामायण, उपनिषद, या कोई भी धार्मिक ग्रंथ उपयोगी हैं। यदि जीवन में ईश्वर-साक्षात्कार, आत्मानुभूति का लक्ष्य नहीं है, तो इन शास्त्रों और पुस्तकों को पढ़ना बुद्धि-विलास हो सकता है। बहुत से लोग समाचार पत्र, मैगजीन आदि पढ़ते हैं। उसी तरह रामायण भी पढ़ लिया। बुद्धि-विलास के लिये इन शास्त्रों का अध्ययन जीवन में कोई परिवर्तन नहीं ला सकता। किन्तु जिन लोगों ने दृढ़ता पूर्वक यह निश्चय किया है कि मृत्यु के पूर्व कम-से-कम एक बार आत्मा या परमात्मा की झलक तो देख लें। उपनिषद में जो कहा है कि तुम केवल हाड-मांस के पुतले नहीं हो, तुम्हारे भीतर और कुछ है, उनके लिये ये ग्रन्थ बहुत उपयोगी हैं। ये ग्रन्थ उनका मार्ग-दर्शन करते हैं।

उपनिषद कोई पुस्तक नहीं है। उपनिषदों का तात्पर्य कोई पुस्तक-विशेष नहीं है, बल्कि वे सब विद्या-विशेष हैं। एक विशेष प्रकार की विद्या का नाम उपनिषद है, जिसे ब्रह्मविद्या कहते हैं – ब्रह्मविद्यां सर्वविद्यां प्रतिष्ठाम् – ब्रह्मविद्या सभी विद्याओं का आधार है। वह उपनिषद है। ब्रह्मविद्या क्या है? क्योंकि सारी विद्यायें इसी ब्रह्मविद्या के आधार पर प्रतिष्ठित हैं। सारी विद्याओं का आविर्भाव और तिरोभाव इस ब्रह्मविद्या में होता है। ब्रह्मविद्या को समझने के लिये हम अपने अनुभव पर विचार करें।

ब्रह्म का दूसरा नाम है सत्य। जो सत्य है वह ब्रह्म है। सत्य क्या है? सत्य का एक लक्षण है कि उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। भूतकाल में जैसा था, वर्तमान में वैसा है और भविष्यकाल में वैसा ही रहेगा। उसे ही सत्य कहते हैं। एक पक्ष है परम सत्य – Absolute truth, और दूसरा पक्ष है सापेक्ष सत्य – Relative truth। यह जगत् सापेक्ष सत्य है। जगत् का सारा व्यवहार इस सापेक्ष सत्य को लेकर चल रहा है।

बहुत बार ऐसा विचार आता है कि इस सत्य के चक्कर में हम क्यों पड़े? गाँधीजी ने अपना सारा जीवन सत्य के लिये झोंक दिया। भगवान श्रीरामकृष्णदेव ने स्वप्न में भी कोई असत्य शब्द नहीं कहा। उन्होंने जब अपनी सारी साधना माँ काली को अर्पित की, तो यह नहीं बोल सके कि 'माँ यह ले तेरा सत्य और ये ले तेरा असत्य'। सत्य को दे दिया तो आधार क्या रहेगा। हम भी देखेंगे कि हमारा सारा जीवन सत्य पर आधारित है। हम देखेंगे कि एक दिन भी हमारा जीवन सत्य के बिना नहीं चल सकता। हमें विरोधाभास लगेगा कि सारी दुनिया तो झूठ के आधार पर चल रही है और कैसे हम सत्य के बिना नहीं चल सकते। थोड़ा विचार करके देखेंगे कि जिस झूठ के द्वारा संसार में व्यक्ति धन कमाता है, बहुत कुछ प्राप्त करता है, यह कब तक चलता है? जब तक यह झूठ प्रगट नहीं हुआ है, तब तक ही यह चलेगा। वह व्यक्ति अच्छी तरह जानता है कि मैं झूठ बोल रहा हूँ और जिस व्यक्ति को वह ठगता है, वह व्यक्ति विश्वास कर लेता है कि दूसरा व्यक्ति सच बोल रहा है।

❖ (क्रमशः) ❖
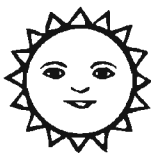
मनुष्य बड़ा है या धन?
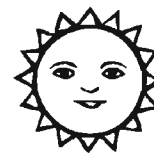
स्वामी योगस्वरूपानन्द

(लेखक बेलूड़ मठ में स्थित ब्रह्मचारी प्रशिक्षण केन्द्र में आचार्य हैं। प्रस्तुत लेख उन्होंने बँगला के 'शिल्पायतन' पत्रिका के २००२ के विशेषांक के लिये लिखा था। वहीं से स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने 'विवेक-ज्योति' के लिये इसका हिन्दी रूपान्तरण किया है। – सं.)

मनुष्य रुपया बनाता है या रुपया मनुष्य को? – हाँ, यह भी एक प्रश्न है और प्रश्नकर्त्ता स्वयं स्वामी विवेकानन्द हैं। मूल बँगला में लिखित अपने 'प्राच्य और पाश्चात्य' निबन्ध में वे पूछते हैं – "मनुष्य नियमों को बनाता है या नियम मनुष्यों को बनाते हैं? मनुष्य रुपया पैदा करता है, या रुपया मनुष्यों को पैदा करता है? मनुष्य कीर्ति और नाम पैदा करता है, या कीर्ति और नाम मनुष्य को पैदा करते हैं?"[१]

सामान्यत: कुछ जानने के लिये ही प्रश्नवाचक वाक्य का प्रयोग किया जाता है। यथा – "तुम कैसे हो?" "कहाँ रहते हो?" आदि आदि। परन्तु कभी-कभी प्रश्नवाचक या जिज्ञासा-बोधक चिह्न का प्रयोग इससे भिन्न अर्थ में भी होता है। यथा – एक व्यक्ति दूसरे से कहता है – "तुम्हारा दिमाग खराब है क्या?" यहाँ प्रश्नकर्त्ता दूसरे व्यक्ति से कदापि यह जानना नहीं चाहता कि उसका दिमाग खराब है कि नहीं। इस प्रश्न का तात्पर्य कुछ दूसरा ही है।

उक्त वाक्य में भी स्वामीजी द्वारा उठाये गये तीनों प्रश्नों का सीधा अर्थ लेने से काम नहीं चलेगा। उनका सही तात्पर्य समझना होगा। प्रत्येक वाक्य के जो दो अंश हैं और उनके प्रथमांश और उत्तरांश परस्पर विरोधी हैं। प्रथम भाग सत्य हो, तो दूसरा भाग सत्य नहीं हो सकता। तो क्या स्वामीजी पाठकों से इसकी मीमांसा चाहते हैं? नहीं। थोड़ा विचार करके ही समझा जा सकता है कि दूसरा भाग अर्थात् रुपया मनुष्य को बनाता है – निरर्थक अंश है। पहला अंश ही सार्थक है – मनुष्य रुपया पैदा करता है। तो यह प्रश्न क्यों उठा? इसी का विश्लेषण करना इस निबन्ध का हेतु है –

यद्यपि स्थूल दृष्टि से उस वाक्य का द्वितीय अंश निरर्थक है, पर जिन दिनों स्वामीजी यह निबन्ध लिख रहे हैं, उसके कुछ काल पूर्व से यूरोप और अमेरिका में एक प्रबल शक्ति समाज को आच्छादित कर रही थी, जिसका नाम था 'वैश्य-शक्ति'। आज की भाषा में उसे Consumerism (उपभोक्तावाद) कहते हैं। स्वामीजी इस शक्ति की प्रबलता का वर्णन करते हुए अपने 'वर्तमान भारत' नामक निबन्ध में लिखते हैं – "वैश्य कहता है, पागल ! जिन्हें तुम 'अखण्ड-मण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्' – कहते हो, वे ही अनन्त शक्तिशाली मुद्रा के रूप में हमारे हाथ में हैं। देखो, उन्हीं की कृपा से मैं भी शक्तिमान हूँ। हे ब्राह्मण ! तुम्हारा जप, तप, विद्या, बुद्धि – इन्हीं की कृपा से मैं अभी खरीद लूँगा। हे महाराज, तुम्हारा अस्त्र-शस्त्र, तेज-वीर्य इनकी कृपा से मेरे इच्छा-पूर्ति या कामना-सिद्धि के काम आयेंगें। अति विशाल और उन्नत जिन कारखानों को देख रहे हो, ये मेरे मधु के छत्ते हैं। वह देखो, असंख्य शुद्ररूपी मक्खियाँ उसमें सतत मधु का संचय कर रही हैं। किन्तु वह मधु कौन पियेगा? – मैं। ठीक समय पर मैं उसकी एक-एक बूँद को निचोड़ लूँगा।"[२] अर्थात् उस समय अपार शक्तिशाली धन ही, सम्राट् के रूप में ब्राह्मणों के जप-तप और क्षत्रियों के तेज-वीर्य – सबको वशीभूत करके – एकछत्र राज्य कर रहा था।

इस दृष्टि से हमारे विवेच्य वाक्यांश के उत्तरार्ध – रुपया मनुष्यों को पैदा करता है – का अर्थ लेना होगा। इसलिये स्वामीजी ने इस विषय पर बोलने के पहले कहा था – "एक बात पर विचार कर देखो" अर्थात् यह समझने की विशेष जरूरत है कि सबसे अधिक शक्तिशाली कौन है? जिस वैश्य -शक्ति की बात 'वर्तमान भारत' से उद्धृत की गयी, वह क्या उस समय थी और आज नहीं है? अवश्य है। जो पहले आर्थिक दृष्टि से विकसित कुछ देशों की ही समस्या थी, आज वह प्राय: संसार के सभी देशों की समस्या हो गयी है। अर्थात् अंग्रेजी में जिसे Memon (कुबेर) कहते हैं, उस शक्ति के सम्बन्ध में आज सभी स्तर के लोगों को सावधान रहना पड़ रहा है। अत: हम लोगों को जान लेना होगा कि मनुष्य में कितनी शक्ति है ! किस प्रकार मनुष्य धन अर्जित करता है और किस प्रकार धन मनुष्य को बनाता है ! स्वामीजी जब भी 'मनुष्य' शब्द का प्रयोग करते हैं, तो उनका तात्पर्य कभी जीवविज्ञानी या समाजशास्त्रियों द्वारा परिभाषित 'मनुष्य' शब्द से नहीं होता, जिनका विचार है कि वह अन्य प्राणियों या जीवों से सामान्यत: थोड़ा अधिक विकसित प्राणी है।

स्वामीजी द्वारा प्रयुक्त 'मनुष्य' शब्द सदा वेदान्त की आत्मा के समानार्थी है, जिसकी महिमा उपनिषदों ने उच्च स्वरों में घोषित की है। स्वामीजी स्वयं एक पत्र में श्री ई. टी. स्टर्डी को लिखते हैं – "**हम उस प्रभु के दास हैं, जिसे अज्ञानी लोग 'मनुष्य' कहते हैं।**"[३] अर्थात् 'मनुष्य' हम गलती से कहते हैं। 'मनुष्य' का सही परिचय है – वह नारायण, भगवान या साक्षात् ईश्वर है। यह ईश्वर केवल मनुष्यों की ही नहीं, अपितु समस्त जीव-जन्तुओं, कीड़े-

मकोड़ों तक – सबका सच्चा स्वरूप, सबकी अन्तरात्मा है। श्रीमद्-भगवद्-गीता के एक श्लोक में इसका बड़ा सुन्दर वर्णन मिलता है – मणियों के बीच पिरोये हुए धागे के समान ही वे चैतन्य-रूपी ईश्वर भी सभी प्राणियों में स्थित हैं और सभी प्राणी उनमें गुँथे हुए हैं।[४] परन्तु वे सभी प्राणियों के अन्तर्यामी होकर भी मनुष्यों में उनकी अभिव्यक्ति अधिक है। मनुष्य भी अन्य प्राणियों की तरह 'भोग' अर्थात् खाना-पीना-सोना और चलना-फिरना आदि करता है, परन्तु उसके भीतर स्थित नारायण, उसका देवत्व, उसे सर्वदा सजग किये रहता है – **आत्मैव हि प्रभवते न जडः कदाचित्**[५] – अन्त में आत्मा ही प्रबल होती है, आत्मा की ही विजय होती है, जड़ की कभी नहीं। धन-दौलत, भोग्य-सामग्रियाँ आदि – सब इस जड़ के अन्तर्गत ही आते हैं। इसी अर्थ में स्वामीजी देखते हैं कि मनुष्य ही धन का उपार्जन करता है; रुपया या जड़ की कोई शक्ति इस चेतना का निर्माण नहीं कर सकती है, उस पर नियंत्रण तो दूर की बात है।

इस दृष्टिकोण के वास्तविक उदाहरण स्वामीजी स्वयं हैं। अमेरिका में जिन लोगों ने उन्हें देखा था, वे ही समझ सके थे कि एक चरित्रवान व्यक्ति किस तरह अर्थ और काम को पैरों तले रौंदते हुए स्वाभिमानपूर्वक विचरण करता है। धनाढ्य रॉकफेलर स्वामीजी का नाम सुनकर भी, अहंकार के कारण उनसे मिलने में हिचकते थे। अन्त में अनिच्छा रहते हुये भी एक बार वे स्वामीजी से मिले, पर स्वामीजी ने उनकी ओर देखा तक नहीं। मगर रॉकफेलर को विस्मय में डालते हुए स्वामीजी उनके अतीत जीवन की अनेक गोपनीय बातें सहज भाव से बोलने लगे। इसके बाद धनाभिमानी रॉकफेलर को स्वामीजी ने भलीभाँति समझा दिया था कि उनकी संचित सम्पत्ति केवल उन्हीं के लिये नहीं है। वे तो उसके न्यासी मात्र हैं; उनका कर्तव्य है कि वे उस धन का विश्व-कल्याण में सदुपयोग करें। धन के अहंकार में उन्मत्त किसी अमेरिकी के लिये ऐसी बातें सहन कर पाना असम्भव है, विशेषकर जब उपदेशक एक 'हिदेन' हो। (ईसाई लोग किसी भी गैर-ईसाई को अत्यन्त निकृष्ट मानकर उसे 'हिदेन' कहते है।) रॉकफेलर भड़क कर स्वामीजी के कक्ष से बाहर चले आये। किन्तु बिना किसी पूर्व-सूचना के ही एक सप्ताह बाद आकर वे स्वामीजी के अध्ययन-कक्ष में प्रविष्ट हुए और उन्हें पिछली बार के समान ही अध्ययन-रत देखकर, कागज का एक टुकड़ा उनके सामने बढ़ा दिया, जिसमें लिखा था कि उन्होंने जन-कल्याण हेतु एक संस्था के निर्माण का संकल्प लिया है और इस प्रकल्प में वे बहुत-सा धन व्यय करेंगे। उन्होंने स्वामीजी से कहा कि अब तो वे निश्चय ही सन्तुष्ट होंगे और उन्हें धन्यवाद देंगे। पर स्वामीजी ने उनकी ओर आँखें उठाकर देखा तक नहीं, अपनी जगह से हिले भी नहीं। उस कागज को धैर्यपूर्वक पढ़कर बोले – "धन्यवाद तो बल्कि आपको मुझे देना चाहिये।"[६]

क्यों धन्यवाद देना चाहिये? क्योंकि रॉकफेलर कुछ धन-कमाकर उसमें इतने मोहान्ध हो गये थे कि आत्मा की अनन्त महिमा को भूल बैठे थे। वे यह भूल गये थे कि **आत्मैव हि प्रभवते न जडः कदाचित्**। स्वामीजी ने एक धक्का देकर ही रॉकफेलर का वह सम्मोहन तोड़ डाला था और वे अनुभव करने लगे कि मनुष्य ही धन पैदा करता है, धन कभी मनुष्य का निर्माण नहीं करता।

इस प्रकार वैश्य-युग के पूर्ण विकास काल में, युगधर्म की लीलाभूमि पर खड़े होकर स्वामीजी सुदृढ़ चरित्र की शक्ति के सामने धन-शक्ति को हीन बताकर ही शान्त नहीं हुये, इसके साथ ही अपने गुरुभाइयों को सावधान भी कर दिया, क्योंकि वे जानते थे कि आगामी पीढ़ी उन्हीं लोगों से यह शिक्षा ग्रहण करेगी। स्वामी ब्रह्मानन्द जी को एक पत्र में वे लिखते हैं – "Neither money pays, nor name nor fame nor learning, it is character that can cleave through adamantine walls of difficulties." – "न धन का मूल्य है, न नाम का, न यश का, न विद्या का; केवल चरित्र ही कठिनाई-रूपी पत्थर की दीवारों को भेद सकता है।"[७]

धन से कुछ नहीं होता – इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि धन-सम्पत्ति आदि सब ले जाकर हम गंगाजी में फेंक दें। स्वामीजी स्वयं इस देश के लोगों के लिये संगठित रूप से कुछ कार्य करने हेतु धन-संग्रह के उद्देश्य से ही अमेरिका गये थे। अत: उपरोक्त वाक्य का तात्पर्य यह है कि धन मनुष्यों की आवश्यकता-पूर्ति के लिये है और मानव-जीवन केवल धनोपार्जन के लिये नहीं है।

चरित्र की शक्ति और मनुष्यत्व रहने पर, धन स्वयं ही आयेगा और बाधा-बिघ्न भी दूर हो जायेंगे। स्वामीजी स्वयं तो चारित्रिक बल से सम्पन्न थे ही, अपने गुरुदेव श्रीरामकृष्ण देव के प्रचण्ड चारित्रिक बल का आदर्श भी उन्होंने अपने नेत्रों से देखा था। इसी चरित्र के बल पर श्रीरामकृष्ण देव मन्दिर में सांसारिक विषयों का चिन्तन करने के लिये रानी रासमणि तक को थप्पड़ मारने की क्षमता रखते थे।[८] जिन रानी रासमणि ने अंग्रेज अधिकारियों तक को कठिनाई में डाल दिया था और जिनके पति राजचन्द्र दास की मृत्यु के समय (१८३६ ई. में) उन्हें उत्तराधिकार के रूप में ६८ लाख रुपये प्राप्त हुए थे। कह पाना कठिन है कि उस काल के भारत में कितने धनाढ्य लोगों के पास उतना धन रहा होगा। यहाँ भी स्वामीजी की वही उक्ति सत्य प्रमाणित होती है – "Neither money pays, ... but it is character." – "न धन का मूल्य है, न नाम का, ... केवल चरित्र ही कठिनाई-रूपी पत्थर की दीवारों को भेद सकता है।"

हमारे शास्त्रकार कहते हैं कि किसी भी विषय की धारणा करने के लिये, सर्वप्रथम जो लोग उसे भलीभाँति जानते हैं, उसके गूढ़ रहस्य को समझते हैं, उनसे सुनना चाहिये। और तब उस पर मनन करना चाहिये अर्थात् विभिन्न दृष्टिकोणों से युक्ति-तर्क के द्वारा उसका परीक्षण करना चाहिये, विश्लेषण करना चाहिये। अन्त में, उसका निदिध्यासन अर्थात् ध्यान करके हृदय की गहराई में उसकी धारणा करनी चाहिये।

वैसे ही यहाँ भी, ऊपर जैसा विश्लेषण किया गया, उसी सूत्र के द्वारा हमें स्वामीजी से जानना होगा कि मनुष्य की शक्ति अर्थात् उसकी चारित्रिक शक्ति, आत्मा की शक्ति और उसकी महिमा कितनी अधिक है और उसकी तुलना में धन-मान-यश आदि कितने तुच्छ हैं। उसके बाद कुछ वास्तविक उदाहरणों के द्वारा अपनी बुद्धि लगाकर उस पर गहन विचार करना होगा। केवल सुनकर मान लेने से नहीं चलेगा। इसके बाद उसकी हृदय में धारणा करनी होगी। तभी यह व्यावहारिक उपयोग में आ सकेगा।

खेद है कि स्वामीजी का यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त-वाक्य, जो उनकी प्रखर प्रज्ञा तथा अनुभूति का परिणाम है और जिसका उन्होंने अपने व्यावहारिक जीवन में बारम्बार प्रयोग किया था और अनेक समकालीन लोगों को प्रयोग करने को कहा था, आज उनके बहुत-से अनुगामी उसकी तनिक भी धारणा करने का प्रयास नहीं कर रहे हैं या किंचित् धारणा करके भी स्पष्ट रूप से अपने जीवन में आचरण करने में असमर्थ प्रतीत होते हैं। इसीलिये बहुत-से लोग दिग्भ्रमित होकर आलोच्य वाक्य के उत्तरार्ध को ही सत्य मानने लगे हैं। यह एक बड़ी समस्या है।

भविष्य में जो लोग श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द की ध्वजा को वहन करेंगे, उनके समक्ष यह एक ज्वलन्त चुनौती है। व्यक्ति चाहे जितना भी जप-ध्यान करे, या मठ-मन्दिर में जाकर प्रणाम करे, अथवा यथाशक्ति साधुसंग करे, परन्तु उसी बात पर निर्भर करता है कि उन्हें सही दिशा मिलेगी या नहीं। अत: हमें इस विषय में विशेष रूप से विचार करने की आवश्यकता है और हम लोगों को स्वामीजी से शक्ति के लिये प्रार्थना करनी होगी, ताकि वे हमें इस समस्या से संघर्ष करने की क्षमता प्रदान करें।

❑❑❑

सन्दर्भ-सूची –

१. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड १० पृ. ६२; **२.** वही, खण्ड ९, पृ. २१७-१८; **३.** वही, खण्ड ४, पृ. ३३७; **४.** मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव – गीता, ७/७; **५.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ३, पृ. ३१२; **६.** युगनायक विवेकानन्द, स्वामी गम्भीरानन्द, खण्ड २, पृ. ५५-५६; **७.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड २, पृ. ३३६३; **८.** श्रीरामकृष्ण-लीला-प्रसंग, खण्ड १, पृ. १२८-२९

सुन्दर जहान सारा

लाखन सिंह भादौरिया 'सौमित्र'

सौन्दर्य से तुम्हारे, सुन्दर जहान सारा।
हर रूप में तुम्हारा, सौन्दर्य प्राण-प्यारा।।

तुम राग-रश्मि-छवि में, मुस्कान में रमे हो,
वीरान बाग-वन में, एकान्त में रमे हो।
नदियों में, निर्झरों में, गुणगान है तुम्हारा,
सौन्दर्य से तुम्हारे, सुन्दर जहान सारा।।

रवि-शशि गगन-सितारे, प्रभु रूप हैं तुम्हारे,
अणु रूप है तुम्हारा, विभु रूप है तुम्हारा।
तुमने अरूप रहकर, हर रूप है सँवारा,
सौन्दर्य से तुम्हारे, सुन्दर जहान सारा।।

तुम व्याप्त वेदना में, सम्वेदना तुम्हीं हो,
सन्तप्त दीन-जन की, दुख-यातना तुम्हीं हो।
तुम व्याप्त हो सभी में, हर जीव प्राण-प्यारा,
सौन्दर्य से तुम्हारे, सुन्दर जहान सारा।।

तुम पूर्णकाम अक्षय, शिव सत्यरूप सुन्दर,
मधु सोम दिव्य अमृत, पीयूष प्राण-जलधर।
विष-पान से पराजित, इन्सान ने पुकारा,
सौन्दर्य से तुम्हारे सुन्दर जहान सारा।।

तुम हो समग्रता में, जन-व्यग्रता में तुम हो,
हर अंश की व्यथा में, हर पूर्णता में तुम हो।
माता-पिता-सखा-सुत, सर्वस्व हो हमारा,
सौन्दर्य से तुम्हारे, सुन्दर जहान सारा।।

हो शुद्ध प्राण-तन-मन, हो निर्विकार जीवन,
हँसते सुमन-सुमन से, विकसे खिले तपोवन।
करुणा-कृपा-निकेतन, हो नाथ दो सहारा,
सौन्दर्य से तुम्हारे, सुन्दर जहान सारा।।

दो शक्ति-भक्ति भगवन्, हम प्राणवान होवें,
कल्मष कषाय धोकर, शुचि शक्तिमान होवें।
विज्ञान-ज्ञानघन की बरसे अजस्त्र धारा,
सौन्दर्य से तुम्हारे, सुन्दर जहान सारा।।

दैवी सम्पदाएँ (८) तपस्

भैरवदत्त उपाध्याय

(गीता में आसुरी गुणों के साथ ही दैवी गुणों का भी निरूपण किया गया है। विद्वान् लेखक ने इस लेखमाला में दैवी गुणों का सविस्तार विश्लेषण किया है और विभिन्न शास्त्रों व आचार्यों के विचारों के आधार पर बताया है कि इन्हें अपने जीवन में कैसे लाया जाय। – सं.)

तप आठवीं दैवी सम्पत्ति है। संयतेन्द्रिय, निराकांक्ष, निराहार या मिताहार मन को एकाग्र करते हुये शरीर तथा गर्दन को अचल व स्थिर करके नासिका की अग्रदिशा में देखते हुये प्रसन्नचित्त, निर्भीक, ब्रह्मचर्य-व्रती, एकान्त या पवित्र स्थान में एकाकी कुशासन पर बैठकर इष्ट देवता के ध्यान के साथ मंत्र-जप – सामान्यत: तप है।[१] पंचाग्नि तप आदि की कठोर साधनायें भी तप की धारणा से सम्बद्ध हैं। अभय, आन्तरिक-बाह्य शुचिता, योगवृत्ति, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, प्राणियों पर दया, अलोलुपता, कोमलता, अनुचित कार्य में लज्जा, अचंचलता, तेजस्विता, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, अद्रोह, अपने आप को पूज्य मानने के भाव का अभाव आदि जो तत्त्व दैवी सम्पत्ति में परिगणित हैं, वे तप में भी आवश्यक हैं।[२] तपोमार्ग अगम और दुर्लभ है।

तप प्रभु का हृदय तथा साक्षात् आत्मा है – **तपो मे हृदयं साक्षात् आत्माऽहं तपसोऽनघ**। परमात्मा ने स्वयं कहा है कि मैं तप के द्वारा ही इस सृष्टि की रचना, भरण और विनाश करता हूँ। तप ही उनकी शक्ति है –

सृजामि तपसैवेदं ग्रसामि तपसा पुन:।
बिभर्मि तपसा विश्वं वीर्यं मे दुश्चरं तप:।। (भागवत ९/२)

तप अपनी आत्मा को तपाना है। उसे परिशुद्ध करना है। मलों का क्षय और दुष्कृतों का विनाश करना है। तप, आँखें बन्द करके भूख-प्यास सहते हुए केवल मंत्रजाप करना नहीं है। वह राग-द्वेष से अनासक्त होकर समाज के व्यापक हित के लिये कर्मरत रहना भी है। तप ब्रह्म है – **तपो ब्रह्म**।[३] तप भी रहस्यमयी ब्रह्मविद्या के तीन आधारों में एक है।[४] धर्म के चार चरणों में वह एक चरण है।[५] आचार्य पुरुशिष्टि के पुत्र तपोनित्य के अनुसार तप ही सर्वश्रेष्ठ है।[६] तप से परमात्मा वर्द्धित होता है।[७] वह यज्ञ है।[८] उसके बिना हृदय में छिपा हुआ आत्मा भी जाना नहीं जाता।[९] तैत्तिरीयोपनिषद् में लिखा है कि उस परमात्मा ने जब चाहा कि मैं बहुत हो जाऊँ, तब उसने तप किया। तदनन्तर इस सम्पूर्ण सृष्टि की रचना की –

सोऽकामयत। एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा। इदं सर्वमसृजत। यदिदं किंच।" (तैत्तिरीय., ६)

इसी प्रकार प्रश्नोपनिषद् में भी वर्णित है कि प्रजाकाम प्रजापति ने तप किया और रयि और प्राण नामक मिथुन की रचना की, ताकि वह सृष्टि-क्रम को आगे बढ़ाये –

तस्मै स होवाच प्रजाकामो वै प्रजापति:। स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा स मिथुनम् उत्पादयते। रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजा: करिष्यत इति। (१-४)

श्रीमद्भागवत में भी भगवान के द्वारा ब्रह्माजी को तप करने का निर्देश है।[१०]

मानस में भी गोस्वामीजी ने वेदवाणी को अपने शब्दों में इस प्रकार रखा है –

जनि आचरजु करहु मन माहीं।
सुत तप तें दुर्लभ कछु नाहीं।।
तप बल से जग सृजइ विधाता।
तप बल विष्नु भये परित्राता।।
तप बल संभु करहिं संघारा।
तप तें अगम न कछु संसारा।।

नारद जी हिमगिरि से कहते हैं कि यदि तुम्हारी कन्या तप करती है, तो उसे पति रूप में भगवान शिव मिल सकते हैं। माता-पिता को उनका यह मत अच्छा लगा –

मातु पितहि पुनि यह मत भावा।
तप सुखप्रद दुख दोष नसावा।।
तप बल रचइ प्रपंचु विधाता।
तप बल विष्नु सकल जगत्राता
तप बल संभु करहिं संघारा।
तप बल सेषु धरइ महि भारा।।

---

१. गीता ६/१०-१५; **२**. वही १६/१-३; **३**. श्वेताश्वतरोपनिषद् १/१५ तथा मुण्डकोपनिषद १/५; **४**. तस्यै तपो दम: कर्मेति प्रतिष्ठा वेदा: सर्वाङ्गानि सत्यम् आयतनम्। केनोपनिषद् ४/८; **५**. विद्या दानं तप: सत्यं धर्मस्येति पदानि च। भागवत, ३/१२/४१; **६**. तप इति तपोनित्य: पौरुशिष्टि:। तैत्तिरीयोपनिषद्, ९;

७. तपसा चीयते ब्रह्म। मुण्डकोपनिषद् १/८; **८**. गीता ४.२८; **९**. श्वेताश्वतरोपनिषद् १-१५; **१०**. भूयस्त्वं तप आतिष्ठ विद्यां चैव मदाश्रयाम्। ३.९-३०

तप अधार सब सृष्टि भवानी ।
करहि जाइ तप अस जियँ जानी ।।

तैत्तिरीयोपनिषद् की कथा है – वरुण का पुत्र भृगु अपने आचार्य पिता के पास पहुँचा और कहा – "पिताजी, मुझे ब्रह्म का उपदेश कीजिये। पिता ने उसे तप करने को कहा और वह तप करने चला गया। तपोबल से उसने जाना कि अन्न ब्रह्म है। पिता ने कहा – **तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व, तपो ब्रह्मेति, स तपोऽतप्यत** – तप से ब्रह्म को जानो। तप ब्रह्म है फिर उसने तप किया। इस बार भृगु ने जाना कि प्राण ब्रह्म है। पिता ने फिर वही कहा और भृगु ने पुन: तप किया। इस बार उसने जाना कि मन ब्रह्म है। पिता ने उसे फिर तप करने को कहा। अब भृगु ने तप के द्वारा जाना कि विज्ञान ब्रह्म है। पिता ने पुन: तप करने का निर्देश किया और उसने तप किया। तत्पश्चात् वह जान सका कि 'आनन्द ही ब्रह्म है'।

स्थूल-से-सूक्ष्म तक की पंचकोशीय आध्यात्मिक यात्रा तप के पाथेय से ही पूरी होती है। पातंजल योग-दर्शन के व्यास भाष्य में लिखा है कि अनादि कर्म-क्लेश-वासना से रंजित विषयों में प्रवृत्त करानेवाला 'अशुद्धि' नामक जो रजस् और तमस् का प्रसार है, उसका बिना तप के नाश होना असम्भव है। आचार्य विनोबा ने अपने गीता-प्रवचन में कहा है – "इस शरीर रूपी संस्था में जो विकार, जो दोष उत्पन्न हों, उनकी शुद्धि के लिये 'तप' बताया गया है।" (**दोष-शोधनं तपः**) महर्षि पंतजलि ने समाधि की सिद्धि के निमित्त जिस क्रियायोग का वर्णन किया है, तप उसका प्रथम सोपान है। उसका उद्देश्य समाधि की सिद्धि के साथ अविद्या आदि क्लेशों का नाश करना है। तपस्या से जब अशुद्धि का नाश हो जाता है, तब शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि हो जाती है अर्थात् नाना प्रकार की शक्तियाँ आ जाती हैं।[११]

श्रीमद्-भगवद्-गीता में स्थूल एवं सूक्ष्म दृष्टियों से तप के तीन-तीन प्रकार निरूपित किये है। देव, ब्राह्मण, गुरु व ज्ञानी जनों का पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा शारीरिक तप है। दूसरों को उद्विग्न न करनेवाली, सत्य-प्रिय व हितकारी वाणी, स्वाध्याय, अभ्यास तथा मन का निग्रह करना – वाणी का तप है। मन की प्रसन्नता, सौम्य, मौन, आत्मसंयम और भावों की पवित्रता – मानसिक तप है। फल को न चाहनेवाले व्यक्ति के द्वारा परम श्रद्धापूर्वक किया गया तप सात्त्विक है। सत्कार, मान तथा पूजा पाने हेतु दम्भपूर्वक किया जानेवाला तथा चंचल तथा अस्थिर फल देनेवाला तप राजस् है। और मूढ़ता एवं हठपूर्वक पीड़ा के साथ दूसरों का अनिष्ट करने हेतु जो तप किया जाता है, वह तामस् है।[१२]

तप से मनोवांछित सिद्धि की प्राप्ति होती है।[१३] माता पार्वती का जन्म गिरिराज के यहाँ हो चुका है। उनकी प्रतिज्ञा है कि उनका विवाह भगवान शिव के साथ ही होगा, अन्यथा वे जीवन भर कुमारी रहेंगी। नारदजी ने हिमालय से कहा कि यदि कन्या वन जाकर तप करती है, तब तो भगवान शिव इसे मिलेंगे, अन्यथा कोई दूसरा उपाय नहीं है –

करै सो तप जेहिं मिलहिं महेसू ।
आन उपाय न मिटहिं कलेसू ।।

माता-पिता को भी यह मत अच्छा लगा। पार्वती वन में चली गईं। उन्होंने कठोर व्रत किया। हजार वर्षों तक फल खाये, सौ वर्ष साग खाकर बिताये, कुछ दिन पूर्ण उपवास रखा, तीन हजार वर्षों तक जमीन पर पड़े हुए सूखे बिल्व-पत्र खाये। तत्पश्चात् उन्हें भी छोड़ दिया और तभी से उनका नाम अपर्णा हुआ। ऐसी कृच्छ तपस्या से काया क्षीण हो जाने पर आकाशवाणी हुई – हे गिरिजा, तुम्हारा मनोरथ सफल हुआ। अब तुम दु:सह तप छोड़कर घर जाओ –

संबत् सहस मूल फल खाये ।
सागु खाइ सत बरस गँवाये ।।
कछु दिन भोजनु बारि बतासा ।
किये कठिन कछु दिन उपवासा ।
बेल पाती महि परइ सुखाई ।
तीन सहस संबत् सोई खाई ।।
पुनि परिहरे सुखानेउ परना ।
उमहि नाम तब भयउ अपरना ।।
देखि उमहि तप खीन सरीरा ।
ब्रह्मगिरा भै गगन गभीरा ।।
भयउ मनोरथ सुफल तब, सुनु गिरिराज कुमारि ।
परिहरु दुसह कलेस सब, अब मिलिहहिं त्रिपुरारि ।।

भवानी ने ऐसा तप किया, जैसा कि अनेक धीर-मुनि ज्ञानियों ने भी नहीं किया –

अस तपु काहु न कीन्ह भवानी ।
भये अनेक धीर मुनि ग्यानी ।।

स्वायम्भुव मनु और उनकी पत्नी सतरूपा ने फल-मूल छोड़कर केवल जल के आधार पर तप किया। जब छह हजार वर्ष व्यतीत हो गये, तब दोनों जलाहार को भी छोड़कर दस हजार वर्षों तक एक पैर पर खड़े रहे –

पुनि हरि हेतु करन तप लागे
बारि अधार मूल फल त्यागे ।।
बरस सहस दस त्यागे सोऊ ।
ठाढे रहे एक पद दोऊ ।।

इस तपस्या के फलस्वरूप ही भगवान विष्णु स्वयं उनके घर प्रकट हुये थे। ध्रुव और प्रह्लाद के तप की कथायें पुराणों

११. तप: स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधानानि क्रियायोग: (२.१)। समाधि भावानार्थ: क्लेश-तनूकरणार्थ: च (२.२)। कायेन्द्रिय-सिद्धि: अशुद्धि-क्षयात् तपस: (२.४४)। **१२**. गीता, १७/ १४-१९

१३. जन्मौषधिमन्त्रतप: समाधिजा: सिद्धय:।

में प्रसिद्ध हैं। सगरवंशी राजा अंशुमान एवं भगीरथ ने वन में जाकर घोर तप किया। भगीरथ की तप: साधना के फलस्वरूप ही पृथ्वी पर पुण्यसलिला गंगाजी का अवतरण हुआ था।[१४] महात्मा बुद्ध तथा वर्द्धमान महावीर ने भी तप: साधना के बल पर ही बुद्धत्व और निर्वाण प्राप्त किया था। केवल देवता ही नहीं, असुर भी तप करते हैं। वे लोग तप के द्वारा शक्तियाँ अर्जित करके देवताओं को पीड़ित करते हैं। देखिये, रावण आदि तीनों भाइयों ने भी तपस्या की थी –

कीन्ह विविध तप तीनिहु भाई ।
परम उग्र नहिं बरनि सो जाई ।।

भस्मासुर ने भी अपनी तपस्या के बल पर ही भगवान शिव से स्पर्श मात्र से किसी को भी भस्मसात् करने की शक्ति प्राप्त की थी। असुरों का तप तामसी था, जिसका उद्देश्य ही था दूसरों को कष्ट देना। इसीलिये उनके तप का परिणाम अस्थायी तथा विनाशात्मक सिद्ध हुआ, जबकि सात्त्विक तप तो सदैव स्थायी एवं सृजनात्मक होता है। भगवान कृष्ण गीता में कहते हैं – जो शास्त्रों की मर्यादा को छोड़कर घोर तप किया करते हैं – दम्भ-अहंकार से प्रेरित होकर काम तथा आसक्ति के बल से शरीर और आत्मा को पीड़ा पहुँचाते हैं, वे क्रूर निश्चय ही वास्तविक तपस्वी नहीं, बल्कि असुर हैं –

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ।।
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः । मां चैवान्तः
शरीरस्थं तान् विद्धयासुरनिश्चयान् ।। १७/५-६

बुद्धदेव ने 'मध्यमा-प्रतिपद्' का उपदेश दिया। गीता कहती है – न अधिक भोजन करने, न भूखा रहने, न ज्यादा सोने और न अधिक जागने से समाधि की सिद्धि होती है।[१५] नियत आहार-विहार से ही दु:खनाशक योग-तप सधता है –

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमश्नतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ।।
युक्ताहारविहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु । युक्त
स्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा । ६/१६-१७)

यज्ञ, तप और दान सत्कर्म हैं। वे मनीषियों को भी पवित्र करनेवाले हैं। इन्हें श्रद्धा और फल की निराकांक्षा से करना चाहिये। यज्ञ तथा तप के भोक्ता तो भगवान हैं, फिर व्यर्थ में अपने आपको कर्त्ता-भोक्ता मानना उचित नहीं है।[१६]

तप भारतीय जीवन-दर्शन का मूल आधार है। भारतीय संस्कृति में जिस प्रकार पंच-जकार और त्रि-गकार का महत्त्व स्वीकृत है,[१७] उसी प्रकार त्याग-तपस्या और तपोवन – इन तीन तकारों का माहात्म्य भी सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय मुक्त कण्ठ से उद्घोषित करता है। तप रूपी पुरुष का शरीर तपोवन और आत्मा त्याग है। त्याग भारतीय जीवन का आदर्श और तप उसकी शक्ति तथा प्रेरणा का स्रोत है। वन तपो-साधना का वह पावन स्थल है, जहाँ सतत शान्ति की अविरल धारा प्रवाहित होती रहती है। जहाँ ज्ञानोपासना, आत्म-चिन्तन और आत्मालोचन के वट-विटपों की शीतल छाया है। जिसके तले पुराकाल में मनुष्यों का तीन चौथाई जीवन व्यतीत होता था और निश्छल, निष्कपट तथा निष्कलुष विचारों तथा भावों का प्रसाद मिलता था। यही कारण है कि अतीत के लोगों का जीवन प्रकृति के समान सरल और त्यागमय था। उसमें नागरी संस्कृति की भोगोन्मुखता तथा छलावों की गन्ध तक न थी। अतृप्ति, असन्तोष और अशान्ति का बीजांकुरण नहीं था। लोग शैशव में विद्याओं का अभ्यास, यौवन में विषयों का संयत उपभोग, वृद्धावस्था में मुनियों की वृत्ति और अन्त में योग की साधना करते हुये शरीर का विसर्जन करते थे।[१८] जीवन त्याग, तपस्या और तपोवन की गरिमा से मण्डित था।

तप न केवल जीवन के अन्तिम लक्ष्य – मोक्ष का साधन है, अपितु जीवन-सुवर्ण को कुन्दन बनाने का सर्वोत्तम उपाय है। इसका लक्ष्य साधना-पथ के काम-क्रोध आदि के बाधाओं के आगे झुकना और सिद्धियों के प्रकाश से चौंधिया जाना नहीं है। यह कर्तृत्व और भोक्तृत्व के अहं के त्याग के साथ द्वन्द्व-सहिष्णुता का गुण है। इसीलिये भगवान ने तपस्वियों के तप को अपना ही स्वरूप कहा है।[१९] इसे धारण करना महत्तम मानवीय गुण और दैवी सम्पत्ति है।

१४. अंशुमान ने बत्तीस हजार वर्षों तक तप किया था – "द्वात्रिंशच्छत साहस्रं वर्षाणि सुमहायशाः। तपोवनगतो राजा स्वर्गं लेभेतपोधनः।।" (वाल्मीकि-रामायण १.४२.१) । **भगीरथ** – "ऊर्ध्ववाहुः पंचतपा मासाहारो जितेन्द्रियः। तस्य वर्ष सहस्राणि घोरे तपसि तिष्ठितः।। अतीतानि महाबाहो तस्य राज्ञो महात्मनः।। **१५**. वही. १/४२.१३

१६. गीता १७/२७-२८; १५/५-६ तथा ५/२९ आदि

१७. (अ) जननी जन्मभूमिश्च जाह्नवी च जनार्दनः।
जनकः पंचमश्चैव जकाराः पंच दुर्लभाः।
(ब) गीता, गंगा, गायत्री – त्रिगकार।

१८. शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्द्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्।। रघुवंशम् १/८

१९. तपश्चास्मि तपस्विषु। गीता ७/९

❖ **(क्रमशः)** ❖

आदेश और यात्रा की तैयारी

स्वामी विदेहात्मानन्द

(अब तक आपने पढ़ा कि कैसे १८९१ ई. में स्वामी विवेकानन्द जी ने उत्तरी-पश्चिमी भारत का भ्रमण करते हुए राजस्थान में भी काफी काल बिताया था। उस समय वे वहाँ के अनेक लोगों – विशेषकर खेतड़ी-नरेश राजा अजीत सिंह के घनिष्ठ सम्पर्क में आये। तदुपरान्त वे कन्याकुमारी तथा मद्रास पहुँचे और वहाँ से अमेरिका जाने की तैयारी करने लगे। बाद में उनकी अमेरिका-यात्रा और सम्पूर्ण जीवन-कार्य में राजस्थान और विशेषकर खेतड़ी-नरेश का क्या स्थान तथा योगदान रहा – क्रमश: इन सभी विषयों पर सविस्तार चर्चा होगी। – सं.)

ठाकुर श्रीरामकृष्ण का दर्शन और आदेश

मद्रास में जब स्वामीजी अमेरिका जाने के लिये दैवी आदेश की प्रतीक्षा कर रहे थे, तभी उनके मन में आया कि माँ सारदादेवी तो गुरुदेव भगवान श्रीरामकृष्ण देव की लीला-सहधर्मिणी और साक्षात् प्रतिरूप हैं, अत: इस विषय में क्यों न उन्हीं को एक पत्र लिखा जाय! वे ही मेरा ठीक-ठीक मार्ग-दर्शन कर सकेंगी। और उनका जो भी आदेश होगा, उसे मैं सहर्ष शिरोधार्य करूँगा।

उनके मन में ये विचार चल ही रहे थे, तभी एक दिन उन्हें एक ऐसा दर्शन हुआ, जिसके फलस्वरूप वस्तुस्थिति पूर्णत: बदल गयी – उन्हें अमेरिका जाने के लिये श्रीरामकृष्ण का प्रत्यक्ष आदेश मिल गया और इस विषय में उनकी सारी शंकाएँ सदा के लिये दूर हो गयीं। घटना इस प्रकार हुई –

एक रात वे किंचित् तन्द्रावस्था में लेटे हुए थे, तभी उन्हें एक अद्भुत स्वप्न दीख पड़ा – श्रीरामकृष्ण ज्योतिर्मय शरीर में समुद्र-तट से जल के सतह पर होकर चले जा रहे हैं और हाथ से उन्हें भी पीछे-पीछे आने का इशारा कर रहे हैं। निद्रा भंग होने के बाद उनका हृदय एक अवर्णनीय आनन्द से पूर्ण हो उठा। उस समय भी उनके कानों में एक दैवी वाणी गूँज रही थी – 'जाओ'। स्वप्न के इस दर्शन तथा आदेश के बाद उनके द्विधा का भाव चला गया। श्रीरामकृष्ण की इच्छा जान लेने के बाद अब उनका पाश्चात्य देशों में जाने का संकल्प दृढ़ हो गया।[1]

माँ का आशीष

पर गुरुमाता श्रीमाँ सारदादेवी का आशीर्वाद लेकर ही वे कलकत्ते से इस भ्रमण-यात्रा पर निकले थे, अब इस विदेश-यात्रा के पूर्व भी उनके लिये माँ को सूचित करना तथा उनसे स्वीकृति, आशीर्वाद तथा कृपा लेना जरूरी था। काफी ध्यान और चिन्तन के बाद उन्होंने माँ को एक पत्र लिखा। यह पत्र श्रद्धा, मृदुता तथा प्रेम के भाव से परिपूर्ण था। इसमें उन्होंने अपने संकल्प के बारे में माँ को सूचित करते हुए बताया था कि वे ठाकुर के नाम पर हनुमान जी के समान समुद्र पार करने जा रहे हैं और उन्हें ऐसा अनुभव हो रहा है कि नियति ही उन्हें आगे ले जा रही है। अन्त में उन्होंने प्रणाम ज्ञापित करते हुए आशीर्वाद की याचना की थी। पत्र में उन्होंने एक अन्य महत्त्वपूर्ण अनुरोध भी किया था – अमेरिका से उनका अगला पत्र आने तक उनके इस संकल्प की बात किसी को ज्ञात न होने पाये। पत्र को लिफाफे में डालकर चिपका देने के बाद उन्होंने प्रणाम की मुद्रा में उसे अपने सिर से लगाया और भेज दिया।[2]

---

१. श्रीरामकृष्ण ने स्वामीजी को समुद्र-यात्रा का जो आदेश दिया था, इस विषय में एक अन्य रोचक सूचना मिलती है रामकृष्ण संघ के छठें अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी शंकरानन्दजी से। उन्होंने बताया था – "देखो, स्वामीजी के बारे में बहुत-सी बातें अब भी लोग नहीं जानते। एक घटना तुम्हें बताता हूँ। इसे मैंने आर. ए. नरसिंहाचार्य से सुना था। स्वामीजी धर्म-महासभा में जायेंगे या नहीं, इस विषय में वे आगा-पीछा कर रहे थे। तो भी उनके मद्रासी मित्रगण उन्हें शिकागो भेजने के लिये खूब प्रयास कर रहे थे। मद्रास में स्वामीजी जहाँ रहते थे, नरसिंहाचार्य भी उसके पास के कमरे में रहते थे। उन्होंने दो-चार दिनों तक लगातार सुना – स्वामीजी काफी रात गये किसी के साथ वाद-विवाद कर रहे हैं, जो काफी देर तक चलता। कई दिनों तक ऐसा ही होने पर नरसिंहाचार्य ने स्वामीजी से पूछा, 'स्वामीजी, इतनी रात गये आप किसके साथ वाद-विवाद करते हैं?' पहले तो स्वामीजी ने उनके समक्ष कुछ प्रकट करना नहीं चाहा, परन्तु नरसिंहाचार्य भी नाछोड़-बन्दा थे। काफी अनुरोध करने पर स्वामीजी ने बताया, 'मेरी शिकागो की धर्म-महासभा में जाने की इच्छा नहीं थी, मन-ही-मन मैंने न जाने का ही निश्चय कर लिया था। परन्तु श्रीरामकृष्ण कई दिनों से मुझे बार-बार दर्शन देकर कहते हैं – "तू मेरे कार्य के लिये आया है, तुझे जाना ही होगा। तेरे लिये ही उस सभा का आयोजन हो रहा है। तुझे चिन्ता करने की कोई जरूरत नहीं। तेरी बातें सुनकर लोग मुग्ध हो जायेंगे।" मैं जितना ही मना करता हूँ, वे उतना ही मुझसे जाने के लिये हठ करते। ऐसे ही दो-चार दिन वाद-विवाद होता रहा। आखिरकार ठाकुर का आदेश शिरोधार्य करके जाने के लिये राजी हो गया हूँ।' " (Swami Vivekananda : A Hundred Years Since Chicago, Belur Math, Ed. 1994, (Vivekananda on the way to Chicago, Swami Chetnananda, P. 10-11)

२. Life of Swami Vivekananda, Eastern and Western Disciple, Mayavati, Ed. 1913, Vol. 2, p. 252

पहले उद्धृत स्वामी सारदानन्दजी के २८ फरवरी (१८९३) के पत्र में लिखा है – "बहुत दिनों से नरेन्द्रनाथ के हाथ का लिखा हुआ कुछ मिला नहीं। परन्तु लोगों के मुख से सुना है कि वे रामेश्वर-धाम की यात्रा करने के बाद इस समय मद्रास में निवास कर रहे हैं।"[३] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि श्रीमाँ को पत्र लिखने की घटना फरवरी के बाद ही और मार्च के प्रारम्भ में हुई होगी।

माँ की प्रतिक्रिया

स्वामीजी का वह पत्र माँ को जयरामबाटी में ही मिला था, क्योंकि माँ की जीवनी में स्वामी गम्भीरानन्द जी लिखते हैं – "अक्तूबर १८९० से १८९३ ई० तक जयरामवाटी में रहकर श्रीमाँ कलकत्ता आईं और बेलूड़ में गंगा-तट पर नीलाम्बर मुखोपाध्याय के मकान पर रहने लगीं।"[४]

स्वामीजी ने विदेश जाने की अनुमति माँगते हुए माँ से जो पत्र लिखा था, उस विषय में कुछ जानकारी किरण चन्द्र दत्त की एक स्मृति-कथा में प्राप्त होती है। स्वामी तुरीयानन्द से सुनी हुई वह घटना इस प्रकार है – "स्वामीजी उन दिनों मद्रास में थे। शिकागो के धर्म-महासभा में जाने की तैयारी चल रही थी। मद्रासवासी भक्तगण आलासिंगा के नेतृत्व में स्वामीजी को अमेरिका भेजने की व्यवस्था में लग गये। निश्चय हुआ कि वे मद्रास से ही रवाना होंगे। इस बीच स्वामीजी को स्वप्न में श्रीरामकृष्ण का दर्शन मिला, जिसमें उन्होंने संकेत से उन्हें समुद्र-पार जाने को कहा था। पर बीच -बीच में स्वामीजी के मन में शंका उठती और वे चिन्तित हो जाते। सोचते – क्या यह सचमुच ही श्रीरामकृष्ण का निर्देश है? ... उसी समय उन्हें याद आया कि श्रीरामकृष्ण ने उनसे कहा था – 'वह (श्रीमाँ) रहेगी, जब कभी सन्देह हो, उससे पूछ लेना।' उन्होंने तत्काल निश्चय किया कि वे पत्र लिखकर माँ का मत पूछेंगे और वे जो कहेंगी, वही करेंगे।

"स्वामीजी को मालूम न था कि माँ इस समय कहाँ हैं – कलकत्ते में या (अपने गाँव) जयरामबाटी में। इसीलिये उन्होंने आलमबाजार मठ में शरत् महाराज (स्वामी सारदानन्द) को एक पत्र लिखा और उसी लिफाफे में उन्होंने माँ के नाम लिखी हुई चिट्ठी भी भेज दी, ताकि शरत् महाराज वह पत्र माँ को भेज सकें। माँ उस समय जयरामबाटी में थीं। शरत् महाराज ने वह पत्र डाक द्वारा जयरामबाटी भेज दिया।

"उस दिन सबेरे ही माँ ने काली-मामा से कहा, 'जा, आज पत्र आयेगा। नरेन का पत्र आयेगा। तू ले आ।' ... जाकर उन्होंने देखा कि डाकिया केवल एक पत्र लेकर आया है और बैठा हुआ है। वही माँ को लिखा हुआ स्वामीजी का पत्र था। डाकिया बोला, 'अच्छा हुआ आप आ गये। आपकी दीदी का पत्र है।' ... पत्र पर लिखा था – 'अर्जेंट।' काली-मामा ने लौटकर माँ से कहा, 'दीदी, तुम्हारा पत्र आया है।' माँ उस समय सब्जी काट रही थीं। बोलीं, 'पत्र खोलकर पढ़।' सुनने के बाद माँ बोलीं, 'कागज-कलम ले आ। लिख दे – अवश्य जायेगा! यह ठाकुर का कार्य है। इससे जगत् का मंगल होगा।' नानी-माँ (श्यामासुन्दरी देवी) एक कोने में बैठी जप कर रही थीं। वे बोल उठीं, 'कहाँ भेज रही है? सात समुद्र तेरह नदी के पार!' माँ बोलीं, 'कल रात ठाकुर मुझे दर्शन देकर बोले – कल नरेन का पत्र आयेगा। यह माँ का कार्य है, इससे जगत् का कल्याण होगा। उसे जाने को कह देना।' "[५]

माँ को अद्भुत दर्शन

श्रीरामकृष्ण के प्रधान शिष्य के रूप में ही माँ नरेन पर विश्वास करती हों, ऐसी बात नहीं। श्रीरामकृष्ण के देहत्याग के उपरान्त उन्हें एक अद्भुत दर्शन हुआ था, जिसमें वे नरेन्द्र के शरीर में प्रवेश करके एकाकार हो गये थे। इससे वे समझ गयीं कि श्रीरामकृष्ण अब नरेन्द्र के माध्यम से ही कार्य करेंगे। उस दर्शन का विवरण इस प्रकार है –

वृन्दावन से लौटकर जब वे कामारपुकुर में थीं, उस दिनों वे सोचतीं – यहाँ गंगाजी नहीं हैं, कैसे रहूँगी? एक दिन उन्होंने देखा कि सामने के रास्ते से आगे-आगे श्रीरामकृष्ण आ रहे हैं, उनके पीछे नरेन, बाबूराम, राखाल, बहुत से भक्त – कितने ही लोग आ रहे हैं! उन्होंने देखा – श्रीरामकृष्ण के चरणों से जल की धारा निकल रही है और वह लहर के रूप में उनके आगे-आगे चल रही है। उन्हें लगा – अरे, ये ही तो सब कुछ हैं, इनके पादपद्मों से ही तो गंगाजी निकली हैं! वे तत्काल मुट्ठी-मुट्ठी फूल तोड़कर गंगाजी में चढ़ाने लगीं। बाद में योगेन-माँ से इसका वर्णन करते हुए माँ ने बताया था, "उस समय इस पीपल पेड़ के तने के पास श्रीरामकृष्ण खड़े थे। अन्त में देखा – ठाकुर नरेन की देह में मिल गये।" फिर वे योगेन-माँ से बोलीं, "यहाँ की धूल ग्रहण करो और प्रणाम करो।"[६] इस दर्शन का ठीक समय ज्ञात नहीं, परन्तु स्वामीजी का पत्र पाने के पिछले दिन उन्हें जो दर्शन मिला था, उसके विषय में स्वामीजी के जीवनीकार प्रमथनाथ बसु लिखते हैं – "उन्होंने भी करीब-करीब वही स्वप्न देखा, जो स्वामीजी ने देखा था – श्रीरामकृष्ण समुद्र की तरंगों पर पैदल चले जा रहे हैं और नरेन्द्रनाथ को अपने

३. बँगला ग्रन्थ 'स्वामी सारदानन्द (जीवन-कथा)', ब्रह्मचारी प्रकाशचन्द्र, बसुमति साहित्य मन्दिर, कोलकाता, १९३६, पृ. ९१

४. श्रीमाँ सारदा, अद्वैत आश्रम, नया संस्करण, पृ. १३९

५. युगदिशारी विवेकानन्द (बँगला ग्रन्थ), उद्बोधन कार्यालय, कोलकाता, सं. २००१, पृ. ३३३-३४

६. माँ की बातें, नागपुर, प्रथम सं. १९९७, भाग १, पृ. १४४

पीछे-पीछे चले आने को संकेत कर रहे हैं। उन्हें नरेन्द्र के विषय में श्रीरामकृष्ण की भविष्यवाणी की भी याद आयी और वे समझ गयीं कि नरेन्द्र श्रीरामकृष्ण का युग-धर्म-स्थापन के कार्य को सम्पन्न करने ही विदेश-यात्रा पर जा रहा है। अत: उन्हें स्वामीजी की सुदीर्घ यात्रा के बारे में कोई आशंका नहीं थी। उन्होंने नरेन्द्र को अपने स्वप्न का वृत्तान्त बताते हुए एक आशीर्वादी पत्र भेज दिया। उसके साथ उन्होंने उन्हें कुछ उपदेश भी लिखे थे।[७] स्वामी अपूर्वानन्द जी के मतानुसार माँ ने आशीर्वाद देते हुए लिखवाया था, "बेटा, विश्व-विजयी होकर लौटो। तुम्हारे मुख में सरस्वती विराजमान हों।"[८]

इस घटना के कुछ महीनों बाद माँ को स्वामीजी-विषयक एक अन्य दर्शन भी हुआ था। मई १८९३ ई. में स्वामीजी के अमेरिका-प्रस्थान के कुछ काल बाद यह घटना हुई थी। माँ के अपने ही शब्दों में – "उस दिन पूर्णिमा थी। चाँद निकला था। मैं उन सीढ़ियों के ऊपर बैठी गंगा को देख रही थी। देखा – पीछे से ठाकुर आकर तेजी से सीढ़ियाँ उतरकर गंगा में जाकर उसमें विलीन हो गये। मुझे रोमांच हो आया। विस्मित होकर मैं देखने के लिए खड़ी हो गयी। तभी न जाने कहाँ से नरेन्द्र (स्वामी विवेकानन्द) गंगा-तट पर आया और दोनों हाथों से उस जल को छिड़कने लगा। ओ माँ, देखा कि असंख्य लोग न जाने कहाँ से आकर नरेन के हाथों का जल पाकर मुक्त होते जा रहे हैं! यह देखने के बाद मैं कई दिनों तक गंगा में नहीं उतर सकी।"[९]

उत्तर पाकर स्वामीजी का हर्षोन्माद

मद्रास में पत्र मिलने के बाद स्वामीजी समझ गये कि अब उनका संकल्प और व्रत सफल होकर रहेगा और वे आनन्द से उत्फुल्ल हो उठे। इस प्रसंग में सत्येन्द्रनाथ मजुमदार लिखते हैं – "पत्र को परम भक्ति के साथ मस्तक पर धारण कर स्वामीजी भावावेगपूर्वक अश्रूपूरित नेत्रों के साथ बालक की भाँति आनन्दविह्वल हो कमरे में नाचने लगे। ऐसी स्थिति में देखकर लोग क्या समझेंगे – यह सोचकर वे अपने धड़कते हुए हृदय को शान्त करने के लिए दूसरों की आँखें बचाकर समुद्रतट पर चले गये। मन्मथ बाबू के भवन में, नियमित समय पर उनके शिष्य तथा भक्तगण उनके लिए प्रतीक्षा कर रहे थे। थोड़ी देर में स्वामीजी वहाँ पहुँचे और उन लोगों से बोले, 'वत्सगण, श्रीमाँ की आज्ञा मुझे मिल गयी है। अब सारे सन्देह व चिन्ताएँ दूर हो गयीं। मैं अमेरिका जाने के लिए तैयार हूँ। दयामयी माँ ने आशीर्वाद दे दिया है – अब चिन्ता किस बात की!'"[१०]

इस आशीर्वाद के विषय में उन्होंने स्वयं ही लगभग वर्ष भर बाद अमेरिका से अपने एक गुरुभाई को लिखा था, "माँ की कृपा, माँ का आशीष मेरे लिए सर्वोपरि है। ... माँ की आज्ञा होने पर हम – उनके भूत-प्रेत कुछ भी कर सकते हैं। अमेरिका के लिए प्रस्थान करने से पूर्व मैंने पत्र लिखकर माँ से आशीर्वाद के लिये प्रार्थना की थी। उनका आशीर्वाद आया और मैं एक ही छलाँग में समुद्र पार कर गया। इसी से समझ लो।"[११]

दुबारा धन-संग्रह

माँ श्री सारदादेवी का आशीर्वाद आते ही स्वामीजी को विश्वास हो गया कि अब उनकी यात्रा में कोई भी बाधा-विघ्न नहीं आ सकती। स्वामीजी का आशीर्वाद लेकर वे लोग घर-घर जाकर धन-संग्रह के कार्य में लग गये।

स्वामीजी के कई जीवनीकारों ने स्वामीजी के यात्रा-व्यय के विषय में कई तरह की बातें लिखी हैं, परन्तु वे अनेक लोगों की सम्मिलित आर्थिक सहायता से अमेरिका गये थे, उन्होंने स्वयं ही अपने 'मेरा जीवन तथा ध्येय' व्याख्यान में कहा था – "मैंने सोचा कि भारत तो देख लिया – चलो, अब किसी और देश को आजमाया जाए। उसी समय तुम्हारी धर्म-महासभा होनेवाली थी और वहाँ भारत से किसी को भेजना था। मैं उन दिनों भ्रमण कर रहा था, पर बोला – 'यदि मुझे भेजा जाए, तो जाऊँगा। मेरा कुछ बिगड़ता तो है नहीं, और बिगड़े भी तो मुझे परवाह नहीं।' पैसा जुटाना मुश्किल था। बड़ी कठिनाई से रुपये एकत्र हुए और वह भी मेरे किराये मात्र के। बस, मैं यहाँ आ गया।"[१२]

धन-संग्रह में कठिनाई देखकर स्वामीजी ने पैदल ही अफगानिस्तान के मार्ग से इंग्लैंड जाने का प्रस्ताव रखा था। मुंशी जगमोहन लाल ने खेतड़ी-नरेश को सूचित किया था कि स्वामीजी के भक्तगण उनकी यात्रा के लिए धन एकत्र कर रहे हैं और उसमें सफलता न मिलने की हालत में स्वामीजी अफगानिस्तान के रास्ते पैदल ही यूरोप जाने को प्रस्तुत हैं।

७. स्वामी विवेकानन्द (बँगला), प्रथम भाग, पंचम सं., पृ. २९२

८. माँ सारदा, नागपुर, सं. २००२, पृ. २३८

९. आशुतोष मित्र, माँश्री सारदा देवी, विवेक-ज्योति, जनवरी २००६, पृ. २९; स्वामी सारदानन्दजी के मतानुसार यह दर्शन स्वामीजी के अमेरिका प्रस्थान करने के पूर्व ही हुआ था – उन्होंने कहा था – "स्वामीजी के अमेरिका जाने के पूर्व माँ ने उस विषय में एक स्वप्न देखा था, जो इस प्रकार है – ठाकुर और स्वामीजी गंगा में उतरे। ठाकुर गंगा में विलीन हो गये और स्वामीजी उसी जल को उठा-उठाकर ऊपर छिड़कने लगे (अर्थात् जीवों के उद्धारार्थ ठाकुर के भाव का प्रसार करने लगे)। (बँगला 'स्वामी सारदानन्देर स्मृतिकथा', सं. स्वामी चेतनानन्द, उद्बोधन, कोलकाता, सं. २००६, पृ. १०३)

१०. विवेकानन्द चरित, नागपुर, नया संस्करण, पृ. १२४

११. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड

१२. Complete Works, Vol 7 Pp. 84-85 (वि.सा. १०/१४)

१३. आगे उद्धृत होनेवाले राजासाहब ११-४-१८९३ का पत्र

स्वामीजी के अमेरिका-प्रस्थान के कुछ माह बाद ही उनके एक गुरुभाई स्वामी शिवानन्द जी मद्रास पहुँचे और कुछ काल वहाँ निवास किया। सौभाग्यवश उनके उस काल के कुछ पत्र मिलते हैं और परवर्ती काल में भी वार्तालाप के दौरान उन्होंने इस विषय में कुछ बातें कहीं थीं।

१३ फरवरी, १८९४ को मदुरै से उन्होंने एक पत्र में लिखा है, "मद्रास में उनके अनेक मित्र हैं। ... उन लोगों ने लगभग ४००० रुपयों का चन्दा एकत्र करके उन्हें अमेरिका भेजा।" रुपये किस प्रकार एकत्र हुए, उक्त स्वामी शिवानन्दजी के पूर्वोद्धृत वार्तालाप में कहा गया है – "इधर मन्मथ बाबू ने स्वामीजी की बात सुनी और सुब्रह्मण्य अय्यर आदि से बोले, 'ऐसा व्यक्ति यदि हमारे बीच से चला गया, तो यह बड़े दु:ख की बात होगी। क्यों न हमीं लोग दस हजार रुपये एकत्र कर दें! सुब्रह्मण्य और मन्मथ बाबू स्वयं **पाँच-पाँच सौ रुपये** देकर बाकी रुपयों की व्यवस्था में लग गये। ... अब मन्मथ बाबू उन्हीं सब राज्यों के राजा-महाराजाओं को पत्र लिखकर रुपयों की व्यवस्था करने लगे। उन लोगों ने देखा कि सरकार के अनेक बड़े-बड़े कर्मचारी भी दे रहे हैं, अत: यदि कोई संकट आया तो सब एक साथ ही उसे झेलेंगे। तब रामनाद के राजा ने भी पाँच सौ रुपये भेजे ...।"[१५]

जी. जी. नरसिंहाचार्य का कहना है – "उनके कुछ अनुरागी चन्दा इकट्ठा करने निकल पड़े। तालिका में सबसे ऊपर, ५०० रुपये की राशि के साथ एक ऐसे व्यक्ति का नाम था, जो पूरे दक्षिण भारत में अपनी परोपकारिता के लिये विख्यात थे। पर उनसे भी धनाढ्य एक व्यक्ति ने एक पैसा भी देने से इन्कार कर दिया और उन्होंने संन्यासियों और विशेषकर स्वामीजी की योग्यता पर ही शंका व्यक्त की।"[१६]

उपरोक्त पत्र में सम्भवत: तालिका में सबसे ऊपर नाम सम्भवत: जस्टिस सर सुब्रह्मण्य अय्यर का था और दूसरी टिप्पणी सम्भवत: रामनाद के राजा के बारे में थी।

जस्टिस सर सुब्रह्मण्यम अय्यर के बँगले पर जाने की घटना का वर्णन करते हुए सी. रामानुजाचारी ने लिखा है – "एक दिन सुबह वे हाथ में दण्ड लिये, बड़ी भव्यता के साथ, मैलापुर, मद्रास के लूज चर्च रोड पर टहलते हुए पश्चिम की ओर चले जा रहे थे। लगभग १५-२० युवक भी उनके पीछे-पीछे जा रहे थे। वे लोग सर एस. सुब्रह्मण्यम अय्यर के घर पर उनसे मिलने और उनके समक्ष स्वामीजी को धर्म-महासभा में भाग लेने हेतु अमेरिका भेजने का प्रस्ताव रखने जा रहे थे। ... मैंने सड़क के अन्त तक उनका अनुसरण किया, परन्तु वे ज्यों-ज्यों आगे बढ़े, त्यों-त्यों बड़ी भीड़ एकत्र होती गयी और जब मुख्य टोली सर सुब्रह्मण्यम अय्यर के घर में प्रविष्ट हुई, तो उन लोगों के साथ ही मुझे भी बाहर ही रह जाना पड़ा। उस समय मुझे केवल इतना ही सुनने को मिला कि वे एक महान् संन्यासी हैं और उन्हें धर्म-महासभा में भाग लेने अमेरिका भेजा जा रहा है।"[१७]

सर सुब्रह्मण्य अय्यर से ५०० रुपयों का पहला बड़ा चन्दा प्राप्त हुआ। उसके साथ मन्मथ भट्टाचार्य ने भी ५०० रुपयों का अपना अंशदान योग कर दिया होगा। इस प्रकार १००० रुपये हो जाने के बाद बाकी ३००० रुपयों की व्यवस्था कैसे हुई, इस विषय में हम स्वामीजी की अंग्रेजी जीवनी का एक उद्धरण ले सकते हैं – "मार्च तथा अप्रैल के महीने में स्वामीजी के मद्रासी शिष्यों ने उनके अमेरिका जाने के लिये चन्दा करके यात्रा-व्यय एकत्र करने हेतु कुछ निश्चित कदम उठाये। इसी उद्देश्य के साथ उनमें से कुछ मैसूर, रामनाद और हैदराबाद तक गये। वे उन लोगों के पास गये, जिन्हें स्वामीजी ने शिष्य बनाया था अथवा जो उनके निष्ठावान प्रशंसक थे। चन्दा एकत्र करने के लिये बनी इस कमेटी के अगुआ थे स्वामीजी के एकनिष्ठ शिष्य आलासिंगा पेरूमल। उन्हें द्वार-द्वार जाकर भिक्षा माँगने में भी कोई हिचक न थी। वे तथा उनके अनुगामी युवकों ने ही अधिकांश धन एकत्र किया। वे मुख्यत: मध्यम श्रेणी के लोगों के पास गये, क्योंकि स्वामीजी ने बता दिया था – 'यदि माँ की इच्छा है कि मैं जाऊँ, तो मुझे आम जनता से धन प्राप्त करना होगा, क्योंकि भारत की आम जनता – निर्धन जनता के लिये ही मैं पश्चिम की यात्रा कर रहा हूँ!"[१८]

१४. महापुरुषजीर पत्रावली, पृ. ३४ (प्रबुद्ध-भारत, मई १९६४)

१५. स्वामी शिवानन्द से वार्तालाप, विवेक-ज्योति, जनवरी १९९४, पृ. ११५-१७ (बँगला मासिक 'उद्बोधन' वर्ष ३६ वाँ, अंक १२ और वर्ष ७५, संख्या ९, पृष्ठ ५३०-३१।

१६. Life of Swami Vivekananda, Eastern and Western Disciple, Mayavati, Ed. 1995, Vol. I, p. 372

१७. Life of Swami Vivekananda, Eastern and Western Disciple, Mayavati, Ed. 1995, Vol. I, p. 362-63

१८. वही, खण्ड १, पृ. ३७९
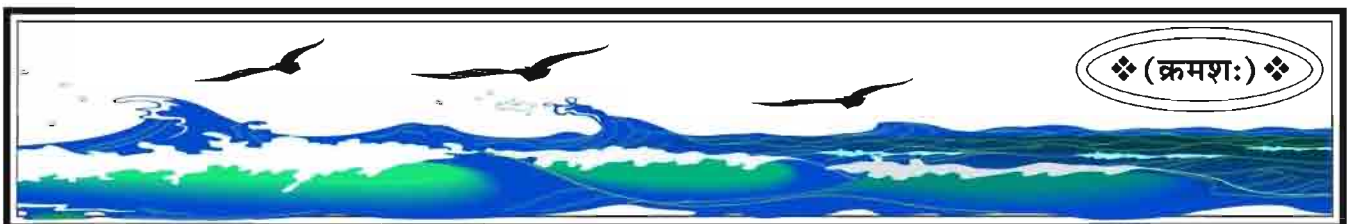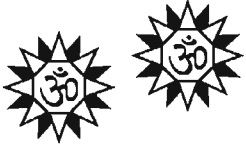
त्रिवेन्द्रम में स्वामी विवेकानन्द (१)
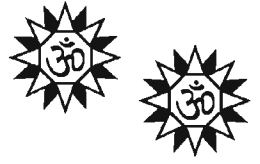
के. सुन्दरराम अय्यर

(धन्य थे वे लोग, जिन्होंने स्वामीजी के काल में जन्म लिया तथा उनका पुण्य सान्निध्य प्राप्त किया। उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आनेवाले अनेक लोगों ने अपनी अविस्मरणीय स्मृतियाँ लिपिबद्ध की हैं, जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं तथा ग्रन्थों में प्रकाशित हुई हैं। प्रस्तुत संस्मरण अद्वैत आश्रम द्वारा प्रकाशित 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ से गृहीत तथा अनुवादित हुआ है। – सं.)

स्वामी विवेकानन्द से मेरी पहली भेंट १८९२ ई. के दिसम्बर में त्रिवेन्द्रम में हुई। उसके बाद कई बार मुझे उनसे मिलने तथा उन्हें जानने का सौभाग्य मिला था। भारत की पुण्यभूमि के चारों छोरों पर स्थित – बद्रीनाथ, केदारनाथ, द्वारका, पुरी तथा रामेश्वरम् की तीर्थयात्रा और वहाँ तपस्या करना भारतीय संन्यासियों की पुनीत परम्परा है। उनकी इस यात्रा के दौरान हिन्दू गृहस्थ उनका आतिथ्य करते हुए संन्यासी-संघ के प्रति अपनी श्रद्धा ज्ञापित करते हैं। पुरा काल से चली आ रही इसी परम्परा का पालन करते हुए अपनी सुदीर्घ यात्रा के दौरान वे त्रिवेन्द्रम पहुँचे। मेरे यहाँ वे अपने एक मुसलमान पथ-प्रदर्शक के साथ आए थे। मेरा द्वितीय पुत्र उस समय बारह वर्ष का था। उसका अब देहान्त हो चुका है। उसने स्वामीजी को भी मुसलमान समझ लिया था और मेरे समक्ष इसी रूप में उनके आगमन की घोषणा की थी। स्वामीजी ने जिस तरह पोशाक पहन रखी थी, उससे इस बालक के लिए भ्रम में पड़ जाना स्वाभाविक ही था, क्योंकि दक्षिण भारत में हिन्दू संन्यासी की ऐसी वेशभूषा देखने में नहीं आती।

मैं उन्हें ऊपर के कमरे में ले गया, उनसे बातें करने लगा और उनका परिचय ज्ञात होने पर उन्हें प्रणाम किया। प्रारम्भ में ही स्वामीजी ने मुझसे अपने मुसलमान साथी के भोजन की व्यवस्था करने का अनुरोध किया। उनका मुसलमान साथी कोचीन राज्य की सेवा में नियुक्त एक चपरासी था और दीवान के सचिव और विशाखापट्टनम् कॉलेज के भूतपूर्व प्राचार्य श्री डब्ल्यू. रमैया (बी.ए.) ने उसे स्वामीजी के साथ भेजा था। स्वामीजी नहीं चाहते थे कि उनके त्रिवेन्द्रम् के मार्ग में या वहाँ पहुँचने पर, उनके लिये किसी परिचय या पूर्व-नियोजित सुविधा की व्यवस्था हो। पिछले दो दिनों से स्वामीजी ने थोड़े-से दूध के सिवा अन्य कुछ भी नहीं खाया था, परन्तु जब तक उस मुसलमान कर्मचारी के भोजन की व्यवस्था नहीं हुई और वह खाकर चला नहीं गया, तब तक उन्होंने अपने विषय में कुछ सोचा ही नहीं।

स्वामीजी के साथ कुछ ही मिनट बातें करके मैं समझ गया कि ये एक विलक्षण व्यक्ति हैं। यह जान लेने के बाद कि एर्नाकुलम से प्रस्थान करने के बाद उन्होंने प्राय: कुछ भी नहीं खाया है, मैंने उनसे पूछा – "आप कैसे भोजन के अभ्यस्त हैं?" उन्होंने उत्तर दिया – "आप जो भी चाहें। हम संन्यासियों के लिए पसन्द-नापसन्द जैसी कोई बात नहीं होती।" भोजन तैयार होने में कुछ मिनट की देरी थी, इसलिये हम लोगों में और भी थोड़ी-सी बातें हुईं।

स्वामीजी बंगाली हैं, यह ज्ञात होने पर मैं बोला – "बंगाली लोगों ने अनेक महापुरुषों को जन्म दिया है और उनमें सर्वप्रमुख हैं ब्राह्म आचार्य केशवचन्द्र सेन।" इसके बाद ही उन्होंने मेरे समक्ष अपने गुरुदेव श्रीरामकृष्ण का उल्लेख किया और उनके अनुपम आध्यात्मिक गुणों पर संक्षिप्त चर्चा के बाद उनके मुख से यह सुनकर मैं हक्का-बक्का रह गया कि श्रीरामकृष्ण की तुलना में केशव एक शिशु मात्र हैं और केवल वे ही नहीं, अपितु एक पूरी पीढ़ी के अनेक विख्यात बंगाली इन महापुरुष से प्रभावित हुए हैं। उनके प्रभाव के फलस्वरूप केशवचन्द्र के परवर्ती जीवन में उनके धार्मिक दृष्टिकोण में काफी गुणात्मक परिवर्तन आ गया था। कई यूरोपीय लोगों ने भी श्रीरामकृष्ण से भेंट की थी और वे उनके प्रति देव-मानव के रूप में श्रद्धा-भाव रखते थे। यहाँ तक कि बंगाल के लोक-शिक्षा विभाग के निदेशक श्रीयुत सी. एच. टानी महोदय ने भी इन महान् विभूति के चरित्र, प्रतिभा, उदारता तथा प्रेरणा-शक्ति का वर्णन करते हुए एक प्रबन्ध लिखा है।

जब स्वामीजी के लिये खाना पक रहा था और जब वे भोजन करते हुए अपना लगभग दो दिनों का उपवास तोड़ रहे थे, उस दौरान हम दोनों ये ही सब बातें करते रहे।

उन दिनों त्रावंकोर के प्रथम राजकुमार मार्तण्ड वर्मा मेरे निर्देशानुसार एम.ए. की परीक्षा के लिये तैयारी कर रहे थे। त्रावंकोर राज्य के अनुरोध पर मद्रास सरकार ने मुझे पहले उन्हें बी.ए. और बाद में एम.ए. की परीक्षा के लिये तैयारी कराने हेतु भेजा था। परन्तु स्वामीजी की उपस्थिति, उनकी वाणी, उनकी आँखों की चमक और उनके शब्दों तथा विचारों का प्रवाह इतना प्रभावी था कि उस दिन मैं राजकुमार को पढ़ाने न जा सका।

स्वामीजी ने थोड़ा विश्राम किया और उसके बाद शाम को मैं उन्हें प्रोफेसर रंगाचार्य के घर ले गया, जो त्रिवेन्द्रम कॉलेज में रसायन-शास्त्र के प्राध्यापक थे। उन्हें भी (मद्रास सरकार की ओर से) त्रावंकोर राज्य की सेवा में भेजा गया था और उन दिनों वे केवल त्रावंकोर ही नहीं, अपितु उत्तरी भारत में भी एक विद्वान् तथा विज्ञान-वेत्ता के रूप में अपनी कीर्ति के चरम शिखर पर थे। उनके घर में उपस्थित न होने के कारण हमारी गाड़ी त्रिवेन्द्रम्-क्लब की ओर चली। वहाँ मैंने विभिन्न सज्जनों के साथ स्वामीजी का परिचय कराया और थोड़ी देर बाद रंगाचार्य के आने पर उनसे भी परिचय करा दिया। उन लोगों में प्राध्यापक सुन्दरम् पिल्लै भी थे। मुझे स्पष्ट याद है कि उनमें एक ब्राह्मण दीवान-पेशकार और मेरे मित्र नारायण मेनन (जो अब शायद त्रावंकोर राज्य में एक दीवान-पेशकार हैं) भी थे। याद इसलिये है कि वहाँ एक ऐसी घटना घटी थी, जिसने साधारण होकर भी स्वामीजी के चरित्र के एक विशिष्ट पहलू को प्रकट कर दिया था और वह यह था कि वे अपने आसपास होनेवाली घटनाओं पर सजग दृष्टि रखते थे तथा बड़े प्रभावी ढंग से उनका उपयोग करते थे। उनके चरित्र में दुर्लभ मृदुता तथा स्वभाव की मधुरता के साथ ही प्रत्युत्पन्न-मति तथा सटीक उत्तर देने की क्षमता भी थी, जो किसी भी विरोधी को तत्काल शान्त कर देती थी।

थोड़ी देर पहले, क्लब छोड़कर जाते समय नारायण मेनन ने उक्त ब्राह्मण-पेशकार को प्रणाम किया। शुद्र के अभिवादन के उत्तर में पेशकार साहब ने पुरातनपन्थी ब्राह्मणों की परम्परा के अनुसार, अपने बाँये हाथ को दायें हाथ से थोड़ा ऊपर उठाकर श्री मेनन के अभिवादन का उत्तर दिया। क्लब के अनेक सदस्य आकर वापस जा चुके थे। अन्त में स्वामीजी, दीवान पेशकार, उनके भाई, प्रो. रंगाचार्य और मैं – ये पाँच लोग ही बचे हुए थे। जब हम लोगों का भी विदा लेने का समय आया, तब दीवान-पेशकार ने स्वामीजी को प्रणाम किया। स्वामीजी ने इसके उत्तर में संन्यासियों की प्राचीन प्रथा के अनुसार केवल – 'नारायण' शब्द का उच्चारण किया। इस पर पेशकार महोदय नाराज हो उठे। उनकी अपेक्षा थी कि उन्होंने जिस प्रकार स्वामीजी को प्रणाम किया है, स्वामीजी भी ठीक उसी प्रकार उन्हें प्रति-प्रणाम करें। स्वामीजी पेशकार की ओर उन्मुख होकर बोले – "जब आपने नारायण मेनन के अभिवादन का उत्तर देते हुए अपनी परम्परागत रीति का पालन किया, तो फिर मेरे द्वारा अपनी संन्यासी-रीति से आपका अभिवादन स्वीकार करने पर आप नाराज क्यों हो रहे हैं?" स्वामीजी के इस उत्तर का समुचित प्रभाव हुआ और अगले दिन पेशकार के भाई ने हमारे यहाँ आकर पिछली रात की अटपटी घटना के लिए क्षमा याचना की।

उस दिन शाम को, स्वामीजी थोड़ी ही देर क्लब में ठहरे, पर उनके व्यक्तित्व ने सबको प्रभावित किया था। त्रिवेन्द्रम नगर का हिन्दू समाज अपने सीमित आकार के बावजूद एक बहुरंगी चित्र प्रस्तुत करता है और उसके सीमित परिवेश में ही दक्षिण भारत की प्राय: सभी विशिष्ट जातियों का जमावड़ा प्राप्त हो जाता है। वहाँ के सभी शिक्षित व्यक्ति जिस 'त्रिवेन्द्रम-क्लब' के सदस्य हैं, वह भी उसी प्रकार प्रतिदिन शाम को प्राय: सभी तरह के लोगों का प्रतिनिधित्व करनवाले लोगों को एकत्र करता है। स्वामीजी सबके साथ उन्मुक्त रूप से बातचीत करते रहे, पर प्राध्यापक रंगाचार्य उन्हें अपने निकटतम प्रतीत हुए, क्योंकि वे जिन जीवन-मूल्यों को महत्त्व देते थे, वे सभी प्राध्यापक में मौजूद थे – उनका ज्ञान विश्वकोष-जैसा था, वक्तृत्व पर असाधारण अधिकार था, उनमें किसी भाव को व्यक्त करने के लिये अथवा दूसरों के तर्क में दोष दर्शाने के लिये तत्काल अपने विराट् बौद्धिक संसाधनों को प्रस्तुत करने की क्षमता थी और उनमें एक ऐसी भावुकता भी थी, जो मनुष्य में निहित सभी अच्छाइयों तथा उदात्त गुणों और प्रकृति तथा कला में निहित समस्त सौन्दर्य से लगाव रखती थी।

बातचीत के दौरान प्राध्यापक सुन्दरम पिल्लै ने कहा कि एक द्रविड़ के रूप में वे स्वयं को हिन्दूत्व के दायरे से बाहर समझते हैं। उनकी इस टिप्पणी पर स्वामीजी थोड़े नाराज हुए थे और बाद में उनके बारे में बोले कि एक विद्वान् होकर भी वे अविचारपूर्वक स्वयं को जातीय संकीर्णता के शिकार हो गये हैं। स्वामीजी ने बताया कि अपनी यात्राओं के दौरान वे ऐसे अप्रिय लक्षणवाले कुछ असन्तुलित तथा सामान्य कोटि के दक्षिण भारतीय विद्वानों के सम्पर्क में आ चुके थे।

जैसा कि बताया जा चुका है कि राजकुमार मार्तण्ड वर्मा मेरे निर्देशन में एम.ए. की डिग्री के लिये अध्ययन कर रहे थे। उन्होंने मुझसे स्वामीजी की उल्लेखनीय प्रतिभा तथा प्रभावी व्यक्तित्व के बारे में सुनकर उनसे मिलने की इच्छा व्यक्त की थी। अत: अगले दिन स्वामीजी राजकुमार से मिलने गए। वैसे मैं भी स्वामीजी के साथ गया था और उनके तथा राजकुमार के वार्तालाप के दौरान उपस्थित था। अपनी यात्रा के दौरान स्वामीजी जिन देशी राजाओं से मिले थे तथा जिन राजदरबारों को देखा था, बातों-बातों में उन्होंने उनका उल्लेख किया। राजकुमार ने इस विषय में बड़ी रुचि ली और उन लोगों के विषय में स्वामीजी की राय जाननी चाही। स्वामीजी ने बताया कि अपने सम्पर्क में आये समस्त हिन्दू राजाओं में बड़ौदा के गायकवाड़ की क्षमता, देशप्रेम, उत्साह तथा दूरदर्शिता ने उन्हें सर्वाधिक प्रभावित किया है। फिर खेतड़ी नामक एक छोटे-से राज्य के राजपूत राजा से भी उनका परिचय हुआ है और वे उनके उत्कृष्ट गुणों के बड़े प्रशंसक हैं। और इसके बाद वे जितना ही दक्षिण की ओर अग्रसर हुए, उतना ही उन्हें भारतीय

राजाओं तथा सामन्तों के गुणों और क्षमताओं में क्रमश: न्यूनता आती दिखाई पड़ी। राजकुमार ने पूछा कि क्या वे उनके चाचा अर्थात् त्रावंकोर के महाराजा से मिल चुके हैं? तब तक महाराजा से स्वामीजी को मिलाने की व्यवस्था करने का समय नहीं मिल सका था। यहाँ बता देना उचित होगा कि दो दिनों बाद दीवान श्री शंकर सुब्बैयार के माध्यम से स्वामीजी की महाराजा से मिलने की व्यवस्था हुई थी। महाराजा ने उनका स्वागत किया और कुशलता पूछने के बाद कहा कि वे जब तक त्रिवेन्द्रम या उनके राज्य के किसी भी अन्य स्थान में रहेंगे, दीवान उनके लिये सारी सुविधाओं की व्यवस्था कर देंगे। यह साक्षात्कार केवल दो या तीन मिनट में ही समाप्त हो गया और स्वामीजी इससे किंचित निराश होकर लौटे, तथापि वे महाराजा के उदारता तथा राजोचित आचरण से प्रभावित हुए थे।

हम पुन: राजकुमार से स्वामीजी के वार्तालाप-प्रसंग में लौट चलते हैं। स्वामीजी कई दिनों तक मैसूर के महाराजा के अतिथि होकर रह चुके थे। राजकुमार ने उनके विषय में स्वामीजी के विचार पूछे। स्वामीजी के कथन का सार यह था – अन्य अनेक भारतीय राजाओं के समान वे भी काफी हद तक अपने दरबारियों के नियंत्रण में हैं। अपनी विचार-बुद्धि से चलने की या तो उनमें क्षमता नहीं है, या फिर इच्छा का अभाव है और इसके कुछ अप्रिय दुष्परिणाम हुए हैं।

उनके द्वारा बताई गयी एक रोचक घटना का यहाँ उल्लेख किया जा सकता है। मैं किसी का नाम नहीं बताऊँगा। एक महत्त्वपूर्ण अधिकारी, जो महाराजा का अत्यन्त प्रिय माना जाता था, उसके बारे में सही या गलत रूप से, शायद गलत रूप से ही, जैसे भी हो जनता के मन में अच्छी धारणा न थी। स्वामीजी ने महाराजा को उसे अपने से दूर रखने की सलाह दी। इस अनुरोध के उत्तर में महाराजा ने एक विचित्र बात कही कि स्वामीजी उनके देखे हुए महानतम लोगों में एक हैं और वे निश्चित रूप से देश के लिये महान् कार्य सम्पन्न करेंगे, परन्तु उन्हें इस प्रकार खुले तौर पर किसी भारतीय महाराजा के प्रिय अधिकारी के दोष बताते हुए उसे बर्खास्त कराने का प्रस्ताव रखकर अपनी जान जोखिम में नहीं डालनी चाहिये। इस घटना से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वामीजी तथा महाराजा के बीच कैसा सम्बन्ध था।

इसके बाद स्वामीजी ने आन्तरिकतापूर्वक राजकुमार से पूछा कि उनकी पढ़ाई-लिखाई कैसे चल रही है और उनके जीवन का लक्ष्य क्या है। राजकुमार ने बताया कि वे पहले से ही त्रावंकोर राज्य की जनता के जीवन में रुचि रखते हैं और महाराजा की एक प्रमुख निष्ठावान प्रजा तथा शासक-परिवार के एक सदस्य के रूप में उनका संकल्प है कि वे यथासाध्य जनता के कल्याण-कार्य को आगे बढ़ायेंगे। राजकुमार भी स्वामीजी के सम्पर्क में आए अन्य सभी लोगों की भाँति ही उनके भव्य व्यक्तित्व तथा आकर्षक गुणों से मंत्रमुग्ध हो गये थे। स्वयं एक शौकिया फोटोग्राफर होने के कारण उन्होंने अनुरोध करके स्वामीजी का भी एक फोटो लिया और रासायनिक प्रक्रिया के द्वारा बड़ी कुशलतापूर्वक उसे एक प्रभावी चित्र के रूप में विकसित किया। बाद में उस चित्र को उन्होंने चेन्नै में होनेवाली अगली कला-प्रदर्शनी में भेज दिया।

राजकुमार के आवास से लौटते समय स्वामीजी ने मुझे बताया कि लगता है कि उनमें काफी सम्भावनाएँ हैं, पर उन्हें यह आशंका भी थी कि उन्हें प्राप्त होनेवाली विश्वविद्यालयीन शिक्षा कहीं उन्हें बिगाड़ न दे। उनका तात्पर्य यह था कि राजकुमार पहले ही ग्रैजुएट हो चुके हैं और इसके आगे मेरे निर्देशन या देखरेख के स्थान पर उन्हें स्वतंत्र चिन्तन के लिये छोड़ देने की आवश्यकता है। परन्तु मेरे द्वारा वस्तुत: राजकुमार को केवल उनके अपने चिन्तन में सहायता मात्र दी जा रही थी और अब उन पर कोई नियंत्रण नहीं रखा जाता था। लगभग एक वर्ष बाद उन्होंने अपनी पढ़ाई बन्द कर दी।

दूसरे दिन का पूरे समय और तीसरे दिन का अधिकांश समय मैंने स्वामीजी के साथ बिताया। तीसरे दिन शाम को मात्र कुछ समय के लिये प्राध्यापक रंगाचार्य आये थे। स्वामीजी ने देखा कि मुझमें परम्परागत हिन्दू जीवनशैली और विश्वासों के प्रति बड़ा लगाव है। सम्भवत: इसीलिए वे अधिकांशत: मेरी रुचि और विश्वासों के अनुरूप ही बातें करते रहे, तथापि बीच-बीच में वे शुद्ध देशाचार या औपचारिक रीति-रिवाजों के अक्षरश: पालन की तीव्र आलोचना भी कर बैठते।

चूँकि मैंने कोई डायरी नहीं रखी और बीस वर्ष पूर्व हुई घटनाओं की छिटपुट अवशिष्ट स्मृतियों के आधार पर ही लिख रहा हूँ, अत: घटनाओं के दिन तथा क्रम के विषय में बिल्कुल निश्चित रूप से नहीं कह सकता। लोगों में यह समाचार फैल गया था कि उत्तरी भारत से एक अत्यन्त विद्वान् तथा मेधावी संन्यासी आकर मेरे यहाँ ठहरे हुए हैं और इसे सुनकर उनके प्रति समुचित श्रद्धा प्रकट करके पुण्य अर्जित करने हेतु अनेक लोग उनके दर्शनार्थ आते रहते। कभी उन आगन्तुकों के सामने ही और कभी अकेले में, बीच-बीच में स्वामीजी के साथ मेरी बड़ी रोचक बातें हुआ करतीं।

एक दिन मनुष्य के विश्वास पर विज्ञान के मनमाने दावों के विरुद्ध स्वामीजी ने घोर आपत्ति व्यक्त की। वे बोले – "यदि धर्म के क्षेत्र में अन्धविश्वास हैं, तो विज्ञान के क्षेत्र में भी अन्ध-विश्वास हैं।" सृष्टि के विषय में विचार करने पर यांत्रिक तथा विकासवादी – दोनों ही व्याख्याएँ अपूर्ण तथा असन्तोषजनक पायी गयी हैं, तो भी बहुत-से लोग कहते हैं कि इस विश्व-ब्रह्माण्ड का रहस्य खुल चुका है। अज्ञेयवाद के प्रति भी लोगों में बड़े आदर का भाव है, परन्तु उसने भी मनोनिग्रह के भारतीय विज्ञान के नियमों तथा सत्यों की उपेक्षा

करके मात्र अपनी अज्ञता तथा दम्भ का ही परिचय दिया है। पाश्चात्य मनोविज्ञान मानव-स्वभाव के नियमों तथा उसके अतीन्द्रिय पक्षों की थाह पाने में बुरी तरह विफल रहा है। मानव-सत्ता की उच्चतर अवस्था और अनुभूति के क्षेत्र में पाश्चात्य विज्ञान की गति जहाँ रुक जाती है, वहाँ भारतीय मनोविज्ञान आगे बढ़कर बता देता है, समझा देता है और दिखा देता है कि उसमें कौन-से नियम क्रियाशील हैं और उनका वास्तविक जीवन में कैसे उपयोग किया जाय।

केवल धर्म – और विशेषकर भारतीय ऋषियों के धर्म के द्वारा ही व्यक्ति मानव-मन के सूक्ष्म एवं गूढ़ क्रिया-कलापों का रहस्य समझ सकता है तथा उसकी भोगवादी कामनाओं पर विजय पाकर एक अद्वितीय सत्य की अनुभूति कर सकता है और समझ सकता है कि माया के राज्य की बाकी सभी चीजें उसी ब्रह्म की सीमाबद्ध अभिव्यक्तियाँ हैं।

स्वामीजी ने जिन विषयों पर चर्चा की थी, उनमें से एक था – लौकिक और अलौकिक जगत् की पृथकता। स्वामीजी ने समझा दिया कि कैसे ये दोनों ही मनुष्य को इन्द्रियों के राज्य में आबद्ध किये रखते हैं; और जो व्यक्ति इन दोनों के ऊपर उठने में समर्थ होता है, केवल वही मानव-जीवन के एकमात्र उद्देश्य – मुक्ति को प्राप्त कर सकता है और वही व्यक्ति मानवीय तथा अलौकिक स्वयं को सभी प्रकार की जागतिक असारता तथा तुच्छता के ऊपर उठ पाता है।

जाति-भेद के बारे में स्वामीजी ने मुझे कहा था कि ब्राह्मण तब तक ही बचे रहेंगे, जब तक कि वे निःस्वार्थ कर्म में लगे रहेंगे और अपना ज्ञान तथा अन्य सब कुछ सबके बीच खुले हाथों बाँटते रहेंगे। स्वामीजी के कुछ अपने शब्द अब भी मेरे कानों में गूँज रहे हैं – 'ब्राह्मणों ने भारत के लिए अनेक महान् कार्य किए हैं, आज भी वे भारत के लिये महान् कार्य कर रहे हैं और भविष्य में वे भारत के लिए और भी महत्तर कार्य करने के लिए विधाता द्वारा निर्दिष्ट हैं।'

स्वामीजी स्पष्ट रूप से घोषणा करते थे कि नारियों के विवाह तथा उनकी सामाजिक स्थिति के विषय में शास्त्रों में जो विधान तथा आचार लिपिबद्ध हैं, उन्हें बदल डालने के प्रबल विरोधी हैं। निम्न वर्गों तथा निम्न जातियों के समान ही नारियों को भी निश्चित रूप से संस्कृत सीखनी चाहिए, प्राचीन आध्यात्मिक संस्कृति को आत्मसात् करना चाहिए और ऋषियों के सभी आध्यात्मिक आदर्शों को जीवन में रूपायित करना चाहिए; और तभी वे अपने द्वारा अर्जित धार्मिक सत्यों के ज्ञान और अपनी आवश्यकताओं के विषय में प्रबुद्ध दृष्टिकोण के प्रकाश में, अपनी सामाजिक स्थिति को प्रभावित करनेवाली सभी समस्याओं को अपने हाथों में लेकर उनका समाधान कर सकेंगी।

समुद्र-यात्रा के विषय में स्वामीजी का क्या विचार है – मैंने इस विषय में भी प्रश्न किया। उत्तर में उन्होंने कहा कि ब्राह्मण तथा अन्य सवर्ण हिन्दू जिस आनुष्ठानिक शुद्धि तथा भोजन आदि के विषय में जिन कालजयी परम्पराओं के अभ्यस्त हैं, उसके लिये पाश्चात्य देशों के सामाजिक परिवेश को उपयुक्त बनाने के लिये पहले वहाँ वेदान्त-प्रचार के द्वारा उसमें सुधार लाना होगा। इन्हीं नियमों ने उन्हें युगों-युगों से भगवत्कृपा का वाहक बनाया है। तथापि ऐसे हिन्दू लोग, जो इन नियमों से मुक्त हैं, या इन्हें त्यागने को तैयार हैं, उनके लिये समुद्र-यात्रा में कोई बाधा नहीं है।

अपने घर में स्वामीजी के तीसरे और चौथे दिन के निवास के दौरान मैंने अपने एक विशिष्ट वयो-ज्येष्ठ मित्र श्री एस. रामा राव को इस विषय में संवाद भेजा, जो त्रावंकोर राज्य की देशी भाषा की शिक्षा के निदेशक थे। उनके चरित्र, आचार, पवित्रता और भगवन्निष्ठा के कारण मैं उनके प्रति सच्ची श्रद्धा तथा मित्रता का भाव रखता था। स्वामीजी की आध्यात्मिक शक्ति तथा भक्तिपूर्ण आचरण के कारण श्री रामा राव ने उनके प्रति अदम्य आकर्षण का अनुभव किया और एक दिन अपने घर भिक्षा ग्रहण करने का अनुरोध किया। स्वामीजी ने कृपापूर्वक सहमति दे दी। भोजन के बाद वे दोनों एक साथ वापस लौटे और उसके बाद भी स्वामीजी ने हमें शिक्षाप्रद तथा उत्साहदायी उपदेश देना जारी रखा।

मुझे स्पष्ट रूप से याद है कि किस प्रकार एक दिन स्वामीजी से इन्द्रिय-निग्रह का अर्थ समझाने का अनुरोध किया। इस पर स्वामीजी ने एक जीवन्त कथा* सुनानी आरम्भ की, जो 'कृष्ण-कर्णामृतम्' ग्रन्थ के सुप्रसिद्ध रचयिता लीला-शुक की जीवन-कथा से मिलती-जुलती थी।

कथा के अन्तिम भाग में आकर उन्होंने सजीव चित्रण करते हुए बताया कि कथा के नायक (बिल्वमंगल) वृन्दावन जाते हैं और एक सेठ की पुत्री का कामभाव से पीछा करने के प्रायश्चित्त के रूप में अपनी दोनों आँखें निकाल लेते हैं और संकल्प लेते हैं कि वे अपना बाकी जीवन वहीं भगवान श्रीकृष्ण की बाल-लीला-भूमि में तपस्या करते हुए बिता देंगे – आज २१ वर्षों के बाद भी वह चित्र मेरे मानस-पटल पर वैसे ही जीवन्त हो उठता है, जैसे कि कुम्भकोणम् के अद्भुत संगीतकार सरभ शास्त्री के बाँसुरी-वादन के अदम्य आकर्षण से परिपूर्ण सुरलहरी का। आँखें निकालने की अन्तिम घटना सुनाने के बाद उपसंहार के रूप में स्वामीजी ने कहा – "चंचल तथा अनियंत्रित इन्द्रियों को संयमित करके उसे ईश्वर की ओर उन्मुख करने के लिये आवश्यक हुआ, तो ऐसा अति कठोर कदम उठाना होगा।" ❖ **(क्रमशः)** ❖

* बिल्वमंगल (विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ७, पृ. १९४-९६)

माँ श्री सारदा देवी (१३)

आशुतोष मित्र

यह रचना 'श्रीमाँ' नामक पुस्तक के रूप में १९४४ ई. के नवम्बर में प्रकाशित हुई थी। यहाँ उसके प्रथम तीन अध्याय ही लिये गये हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस अंश का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

एक तो चेचक होने से माँ का स्वास्थ्य बिगड़ गया था, फिर लगातार दीक्षा देने से उसमें और भी गिरावट आयी थी। उधर राम की माँ[४६] की बहुत दिनों से इच्छा थी कि वे माँ को अपनी उड़ीसा की जमींदारी कोठार ले जायें। सुअवसर देखकर वे इसके लिये माँ से आग्रह करने लगीं। आखिरकार निश्चित हुआ कि १९१० ई. के अग्रहायण (नवम्बर-दिसम्बर) माह में माँ वहाँ जायेंगी। यात्रा के दिन मठ से सबने आकर माँ को प्रणाम किया। पुरुषों में माँ के साथ शुकुल महाराज (स्वामी आत्मानन्द) और कृष्णलाल (स्वामी धीरानन्द) जानेवाले थे। वर्तमान लेखक उन दिनों उद्बोधन-कार्यालय में कार्यरत थे, अत: उनका जाना नहीं हो सकता। यात्रा का समय आ पहुँचा था, तभी कृष्णलाल ऊपर से आकर राखाल महाराज (मठाध्यक्ष स्वामी ब्रह्मानन्द) से बोले – "माँ कह रही हैं कि आशु जायेगा।" अत: महाराज की आज्ञा से लेखक जल्दी-जल्दी अपना कार्य विलास को समझाकर माँ के सेवक के रूप में जाने के लिये तैयार हो गया।

विलास का नाम था ब्रह्मचारी कपिल।[४७] लड़का बहुत अच्छा और माँ का शिष्य था। नाग महाशय के भक्त, ढाका के नारिन्दावासी हरप्रसन्न मजूमदार महाशय उसे मठ में लाये थे। लड़का अच्छा लगा, तो उसे माँ के घर – उद्बोधन कार्यालय में लाकर सहकारी के रूप में रख लिया गया। उसके आने के कुछ दिनों बाद रासबिहारी[४८] नाम का एक अन्य लड़का मठ में आया। वह भी माँ का शिष्य था। लड़का बड़ा ही सरल था। ... उसे भी उद्बोधन कार्यालय में सहकारी के रूप में रख लिया गया।

बाबूराम महाराज के भाई शान्तिराम बाबू ने पहले से ही रेल में एक द्वितीय श्रेणी का डिब्बा और इन्टर क्लास के तीन टिकट आरक्षित करा लिया था। इस द्वितीय श्रेणी के डिब्बे में श्रीमाँ, राधू, छोटी मामी, गोलाप-माँ, राम की माँ तथा निताई की माँ और हम तीन लोग इन्टर क्लास में चढ़े। राम भी अपने लिए एक टिकट लेकर हम लोगों के साथ इंटर क्लास में चले। ...

करीब आधी रात के समय बी. एन. रेलवे के भद्रक स्टेशन पर पहुँचकर देखा गया कि बाबूराम महाराज के बड़े भाई तुलसीराम बाबू तथा राम* की जमींदारी के मैनेजर हरप्रसन्न मजूमदार महाशय गाड़ियों के साथ प्रतीक्षा कर रहे थे। भद्रक में स्थित राम के कचहरी-भवन में मामा तुलसीराम बाबू रहते थे। उनके हार्दिक आग्रह पर माँ वहाँ थोड़ी देर के लिए उतरीं। उसके बाद पालकी और डण्डी कुर्सी में आठ-नौ कोस दूर कोठार गयीं। माँ को पहुँचाकर डण्डियों के लौटने पर उसी में हम लोग भी गये।

कोठार में मकान के भीतर माँ और कचहरी-भवन में हम लोग ठहरे। हम करीब दो महीने वहाँ रहे। माँ दिन में दो-बार हम लोगों से बातें करने या पत्र सुनकर उनके उत्तर लिखवाने के लिए पिछले कमरे में आतीं और हम लोग भी पिछले द्वार से वहाँ जाते। तभी एक दिन केदार (स्वामी अचलानन्द) आये और वहीं रह गये। दूसरे के घर में आबद्ध रहने के कारण छोटी मामी का दिमाग फिर गया और माँ के आदेश पर लेखक उन्हें जयरामबाटी पहुँचा आये।

कोठार में दोनों समय मुख्य द्वार से भीतर जाकर हम लोग भोजन कर आते। नाश्ता और चाय कमरे में ही आ जाता था। राम की तब तक दीक्षा नहीं हुई थी। सरस्वती-पूजा के दिन उन्होंने अपनी पत्नी (सुशीला बाला) के साथ माँ से दीक्षा ली। सुदूर शिलांग से भी दो भक्त आकर दीक्षा ले गये। वहाँ राम के परिवार का एक देवालय भी है, जिसमें राधा-श्यामचाँद की नित्य सेवा होती है। मन्दिर के समक्ष बड़ा आंगन है। उसमें बीच-बीच में गीति-नाट्य होता रहता है। मन्दिर के चबूतरे पर हर वर्ष सरस्वती-पूजा भी होती है।

कोठार में माँ ने ऐसा एक महानुष्ठान किया, जिसे ठाकुर ने भी नहीं किया था। क्या इसलिए ठाकुर ने माँ को विधिवत् शिक्षा देने के बाद अन्त में कहा था – "तुम्हारे पास बहुत लोग आयेंगे और तुम्हें उन्हें देखना होगा?" इस अनुष्ठान में

४६. बलराम बोस की पत्नी और रामकृष्ण बोस की माँ

४७. परवर्तीकाल में स्वामी विश्वेश्वरानन्द

४८. परवर्तीकाल में स्वामी अरूपानन्द

*४६. बलराम बोस के पुत्र रामकृष्ण बोस

जो लोग निमित्त बने, उनका जीवन सार्थक हो गया और सर्वाधिक धन्य तो राम ही हुए, क्योंकि उन्हीं की जमींदारी और उन्हीं के भवन में यह कार्य सम्पन्न हुआ।

कोठार के पोस्ट-मास्टर देवेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय ने यौवन के उद्दाम आवेग में एक ईसाई स्त्री के प्रति आसक्त होकर वह धर्म अपना कर उससे विवाह कर लिया था। परन्तु कुछ काल बाद वह उन्हें छोड़कर चली गयी और बहुत चेष्टा के बाद भी उसे लौटा पाने में असमर्थ होकर देवेन्द्र बाबू हताश हो गये। क्रमश: जब वे उसे भूल गये, तो उन्होंने रूप के मोह में पड़कर जो पर-धर्म अपना लिया था, इसके लिये उन्हें खेद होने लगा। जब वे इस प्रकार बड़े शोकमग्न थे, तभी उनका हम लोगों से परिचय हुआ। परिचय ज्यों-ज्यों घनिष्ठ होता गया, त्यों-त्यों उनका पश्चात्ताप बढ़ता गया। उन्हें बच्चों की भाँति विलाप करते देखकर हम लोगों ने आपस में इस सन्दर्भ में अपने कर्तव्य पर विचार किया और फिर माँ को सारी बातों से अवगत करा दिया। यह जानकर कि राम और उनकी माँ को देवालय या मकान में देवेन्द्र बाबू के शुद्धि पर कोई आपत्ति नहीं है, माँ ने उन्हें पुन: दीक्षित होने का आदेश दिया। इसके फलस्वरूप सरस्वती-पूजा के एक दिन पूर्व मुण्डित-मस्तक देवेन्द्रनाथ ने राधा-श्यामचाँद के पुजारी की सहायता से मन्दिर प्रांगण में प्रायश्चित किया और ब्राह्मण कृष्णलाल (स्वामी धीरानन्द से) से यज्ञोपवीत तथा गायत्री लेकर पुन: स्वधर्म में प्रवेश किया। जब वे पुन: ब्राह्मणत्व पाकर माँ को प्रणाम करने गये, तो माँ ने उन्हें प्रति-नमस्कार किया। अगले दिन अर्थात् सरस्वती पूजा के दिन देवेन्द्रनाथ ने माँ से दीक्षा ली। दीक्षा के बाद माँ ने उन्हें पहनने को एक वस्त्र दिया। उस दिन राम के निमंत्रण पर देवेन्द्रनाथ ने सादर बैठकर माँ का प्रसाद ग्रहण किया। इसीलिए मैंने कहा कि ठाकुर के समय जो कार्य नहीं हुआ था, वह माँ के द्वारा सम्पन्न हुआ। माँ ने स्वधर्मत्यागी को पुन: स्वधर्म में प्रतिष्ठित किया – घर का लड़का खेलकूद में व्यस्त था और अब माँ की कृपा से घर लौट आया। ठाकुर ने ही सब कराया।

माँ की उपस्थिति में इस बार सरस्वती-पूजा बड़ी धूमधाम से हुई। पूजा के दिन रात में उड़िया नाट्य-गीति हुई। दो बालकों ने श्रीकृष्ण और राधा की भूमिका निभाई। ऐसी अपूर्व नाट्य-गीति मुझे जीवन में पहली बार देखने को मिली। पूरे नाटक में एक भी संवाद नहीं था, केवल नृत्य और गीत से ही अभिनय सम्पन्न हुआ। और वह नृत्य बड़ा मनोहर भी था। उसमें थियेटर आदि में दिखनेवाली पाश्चात्य नृत्यकला का लेश तक न था। उसमें पूर्णत: प्राच्य कला ही विद्यमान थी। पूरे शरीर के अंग-प्रत्यंगों से परिचालित वह नृत्य क्या चीज थी, उसमें कितना अधिक व्यायाम तथा परिश्रम निहित था, तथापि वह सर्वांग-सुन्दर सुदृश्य के रूप से प्रस्फुटित हुआ था! उसे जिन्होंने नहीं देखा है, वे नहीं समझ सकते। हम लोगों को आशंका होने लगी और अन्त तक यह देखकर हम लोग विस्मित रह गये कि इन दो छोटे बालकों के लिए सारी रात इतना परिश्रम कर पाना कैसे सम्भव हो सका था! फलत: वह इतना मर्मस्पर्शी हुआ था कि उस नृत्य के साथ गीतों की प्रत्येक कड़ी आज भी मेरे मन में अंकित है। उसे देखकर माँ इतनी मुग्ध हुईं कि सरस्वती-पूजा की चिरन्तन प्रथा को बदलकर, दो दिनों की पूजा और तीसरे दिन विसर्जन की नयी विधि चलानी पड़ी और दूसरी रात भी इस नाट्य-गीति के पुन: अभिनय का आदेश देना पड़ा।

मैंने जिस गीत को उल्लेख किया तथा जिसकी पहली कड़ी नीचे उद्धृत कर रहा हूँ, वह माँ को इतनी पसन्द आयी और वे उसके अभिनय से इतनी अभिभूत हो गयीं कि उनके आदेश पर उसका बारम्बार अभिनय करना पड़ा तथा बाद में भी कई बार मैंने उन्हें इस कड़ी को गाते हुआ सुना है –

कोंड़ करिला रा नन्दर टीका पिलाटि !

इसका अविकल हिन्दी अनुवाद इस प्रकार होगा – "नन्द के उस छोटे बालक ने यह क्या किया!"

प्रतिमा को शोभायात्रा के साथ विसर्जन के लिए ले जाया गया। उस शोभायात्रा में धनी-निर्धन, साधु-असाधु, त्यागी-गृही, वृद्ध-बालक – सभी लोग प्रतिमा के सामने एकत्र होकर समवेत स्वर में गाते रहे –

श्री दुर्गा नाम भूलो ना,
भूलो ना रे मन, भूलो ना।
श्री दुर्गा स्मरणे, समुद्र-मन्थने
विषपाने विश्वनाथ मलो ना। ...

(भावार्थ – रे मन श्री दुर्गा का नाम मत भूलो। समुद्र-मन्थन के बाद विश्वनाथ शिव ने श्री दुर्गा का स्मरण करते हुए विष पी लिया, इसीलिये वे बच गये।)

राम-परिवार के बड़े तालाब में देवी का विसर्जन हुआ।

माँ के निवास के दौरान राम की अतिथिशाला में अतिथियों की संख्या काफी बढ़ गयी थी। चारों ओर आनन्द की लहरें उठती रहने से पूरा गाँव नगर की भाँति निरन्तर मुखरित रहता था। पहले ही बता चुका हूँ कि खिड़की-महल में माँ के साथ दोनों समय बातचीत होती थी। ये बातें विभिन्न विषयों पर हुआ करती थीं। एक दिन तीर्थ-दर्शन के बारे में चर्चा उठी। माँ ने लेखक से पूछा कि उसे कितने धाम के दर्शन करने का सौभाग्य मिला है। यह जानकर कि बद्रिकाश्रम तथा पुरी – इन दो धामों का दर्शन हुआ है, माँ ने फिर पूछा – "तो फिर क्या-क्या बाकी है?" वह बोला – "द्वारका और रामेश्वरम्, वैसे रामेश्वरम् इसी मार्ग में पड़ता है।" यह सुनकर माँ ने पूछा – रामेश्वरम् कितनी दूर है, जाने में कितने दिन लगते हैं? आदि आदि। इन प्रश्नों से लगा कि वे जाने को इच्छुक

हैं, अतः बोला – "माँ, इच्छा हो, तो चलिए। मद्रास में शशी महाराज (स्वामी रामकृष्णानन्द) हैं। सारी व्यवस्था कर देंगे।" माँ ने कहा – "ठीक कहते हो बेटा, मेरे ससुरजी गये थे, वहाँ से रामशिला लाये थे, कामारपुकुर में देखा है न, अब भी पूजा होती है। मैं जाऊँगी।"

इस प्रकार जाने का निश्चय हुआ, फिर शरत् महाराज तथा शशी महाराज को पत्र लिखे गये और जाना पक्का हो जाने पर, माँ के आदेश से मैं जयरामबाटी जाकर छोटी मामी को ले आया। पहले कोठार से उन्हें जयरामबाटी पहुँचा आया था, अब रामेश्वरम् जाने के लिए उन्हें पुनः ले आया।

राम की माँ और निताई की माँ हम लोगों के साथ चलीं। यथासमय हम सभी भद्रक पहुँचे। राम को पुरी जाना था, अतः उन्होंने वहाँ के लिए अपना टिकट खरीदा। शुकुल महाराज, कृष्णलाल और लेखक के लिए तीन मद्रास के इन्टर क्लास के टिकट खरीदे गये। माँ, छोटी मामी, गोलाप -माँ, राम की माँ एवं निताई की माँ – इन पाँचों के लिए पाँच सेकेण्ड क्लास के टिकट खरीदे गये। राधू का टिकट नहीं लगता था, परन्तु मद्रास से उस तरफ लगा था।

मैंने अपनी स्मृति तथा यत्नपूर्वक रखे हुए नोट के आधार पर उन सभी के नाम का उल्लेख किया, जो माँ के साथ रामेश्वरम् गये थे।

यथासमय भद्रक से हम मद्रास मेल में चढ़े। रामेश्वरम्-यात्रा का वृतान्त शुरू करने पर ख्याल आया कि देखूँ कोठार के सभी दिनों की घटनाएँ लिखी गयी हैं या नहीं? खोजबीन से पता चला कि एक दिन की घटना का वर्णन नहीं हुआ है। अतः यथास्थान न होते हुए भी उसे यहाँ दे रहा हूँ –

सरस्वती-पूजा हो चुकी है। मंगलवार की शाम की बात है। यह दिन लेखक के लिए माँ के संगलाभ का एक अति स्मरणीय दिन है। खिड़की-महल में जाकर देखा कि माँ वहाँ पहले से ही बैठी हैं। देखा कि उन्हें मेरी उपस्थिति का पता नहीं चला। मुझे शंका हुई। चुपचाप खड़े रहकर प्रतीक्षा करने लगा कि कब वे मेरी ओर देखें और बातें करें। परन्तु कोई प्रतिक्रिया न होने पर विशेष रूप से निरीक्षण करने पर पाया कि वे वात-कष्ट के कारण पैर फैलाकर बैठी हैं, परन्तु शरीर सीधा है, दोनों नेत्र खुले हैं, तथापि दृष्टि बाहर की ओर नहीं है। उनके भाव में विघ्न न डालकर मैं मौन स्थिर भाव से प्रतीक्षा करने लगा और अपलक नेत्रों से उनका मुख देखने लगा। करीब दस-पन्द्रह मिनट प्रतीक्षा के बाद उनका प्रथम वाक्य सुनाई दिया। उन्होंने पूछा – "कब आये?" मैं बोला – "अधिक देर नहीं हुई, माँ। आप यहाँ कब से बैठी हैं?"

– "बन्द होकर रहना अच्छा नहीं लगा, इसलिए दोपहर में उन लोगों के सो जाने पर निकलकर एकान्त में बैठी हूँ।"

इससे मुझे याद हो आया कि अच्छा न लगने के कारण ही तो वे कोलकाता के किराये के या अपने घर में भी रहते समय बीच-बीच में छत पर जाकर एकाकी बैठी रहती हैं।

माँ कहती रहीं। किस भाव से कहती रहीं – वह मैं नहीं कहूँगा, क्योंकि हमारी धारणा भ्रान्तिपूर्ण है, क्या हम लोग उन्हें समझ सकेंगे? मैं केवल उनकी उक्तियाँ ही दे रहा हूँ।

माँ कहने लगी – "बार-बार आना – इससे छुटकारा नहीं है? जहाँ शिव हैं, वहीं शक्ति है – शिव-शक्ति संयुक्त हैं। बार-बार वही शिव, वही शक्ति। छुटकारा नहीं है। पर लोग समझते नहीं – ठाकुर ने उनके लिए कितना कष्ट उठाया है! यह सब तपस्या – इसकी क्या जरूरत थी? तो भी तपस्या – केवल लोगों के लिए है। लोग क्या इतना कर सकेंगे? उनमें तेज कहाँ, शक्ति कहाँ? इसीलिए तो ठाकुर को सब करना पड़ा। काँकुड़गाछी का एक भजन जानते हो?"

मैंने पूछा – "कौन-सा भजन, माँ?"

माँ – 'दीन ठाकुर आये हैं, दीनजनों के लिये' – सचमुच ही मेरे बच्चे दीन-हीन हैं। एक बार 'माँ' कहकर पुकारने से क्या रहा जा सकता है? ठाकुर को तत्काल आना पड़ता है।

मैंने पूछा – "चैतन्यदेव भी क्या ठाकुर ही हैं?"

माँ – "हाँ, हाँ। ठाकुर ही बार-बार आते हैं, एक ही चाँद रोज-रोज निकलता है। छुटकारा नहीं है – पकड़ में हैं। जीव उन्हीं के हैं। वे नहीं, तो क्या मुहल्ले के लोग आकर देखभाल करेंगे? उन्होंने कहा है – 'तुम मुझे ज्योंही पुकारोगे, त्योंही आकर तुम्हें दर्शन दूँगा।' यह बात याद रखो – कभी मत भूलना – पुकारते ही पाओगे – वे कल्पतरु हैं।"

मैंने कहा – "मैं तो अपनी माँ को ही जानता हूँ।"

माँ – "ठाकुर ने ही तो 'माँ' कहना सिखाया है। 'माँ' कहने में यही तो है – उनकी सृष्टि – उन्होंने प्रसव किया है और वे ही खाती जा रही हैं। खाती जा रही हैं अर्थात् मुक्त कर दे रही हैं। उनकी लीला, उनका खेल!"

राधू आयी। माँ ने उससे दो पान लाने को कहा। पान देकर वह माँ को ले जाने के लिए जिद करने लगी। माँ ने कहा – "थोड़ा एकान्त में बैठी हूँ। तू जा, मैं थोड़ी देर में आ रही हूँ।" उसके नाराज होकर चले जाने के बाद माँ ने एक पान पुत्र को दिया और दूसरा स्वयं खाकर पुनः कहने लगीं – "कहते हैं – 'बार-बार आता हूँ, कितने दुख पाता हूँ, और कब तक यह पीड़ा सहन करूँगा – यह क्या केवल जीव की ही बात है – यह तो ठाकुर का भी कष्ट है! इसलिए बैठी-बैठी सोच रही थी। देखा – अन्त नहीं है। ठाकुर को कितना कष्ट है – कौन समझेगा?"

मैं बोला – "केवल ठाकुर को ही क्यों माँ, आपको भी तो कष्ट है! ठाकुर और आप एक ही तो हैं।"

माँ ने कहा – "छी, ऐसी बात भी कहते हैं? बुद्धू लड़के ! मैं तो उनकी दासी हूँ ! पढ़ा नहीं? – 'मैं यंत्र हूँ तुम चालक हो, मैं घर हूँ तुम इसके निवासी हो, जैसा कराते हो वैसा करती हूँ।' सब कुछ ठाकुर हैं, ठाकुर के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। कभी-कभी लगता है कि क्या जीव का ऋण कभी चुकेगा नहीं? फिर सोचती हूँ – नहीं, यह ऋण तो चुकनेवाला नहीं है – कितना भी प्रयास करने पर नहीं होगा – जीव उन्हीं का है।"

मैंने पूछा – "क्या इसीलिये जो भी मंत्र माँगने आता है, आप उसी को दे देती हैं?" माँ बोलीं – "कितना शोक-ताप पाकर, कितनी पीड़ा-कष्ट पाकर जीव छटपटाते हुए आता है, ठाकुर के सिवा उनकी ज्वाला को कौन शान्त करेगा? वे जो पीड़ितों के हमदर्द हैं। वे स्वयं उन लोगों से भी अधिक कष्ट पा रहे हैं, तभी तो उनका कष्ट समझते हैं।"

भीतर से राधू के चिल्लाने पर माँ – "बैठ, राधू को खाना देकर आती हूँ" – कह कर चली गयीं। मन में आया कि कहूँ – आपको तो ठाकुर से भी अधिक कष्ट उठाना पड़ रहा है। फिर सोचा – नहीं, उनके भाव में विघ्न डालना उचित नहीं। जो कुछ कह रही हैं, सब सुनता जाऊँगा।

लौटकर माँ कहने लगीं – "हाँ, तो क्या कह रही थी?" मैं बोला – "ठाकुर की बात।" वे कहने लगीं –"एक बार क्या देखा, जानते हो? देखा कि ठाकुर ही सब हुए हैं। जिधर देखती, उधर ही ठाकुर – काना भी ठाकुर, लंगड़ा भी ठाकुर – ठाकुर के सिवा और कोई नहीं है। तब मेरी समझ में आया कि यह सृष्टि उन्हीं की है और वे ही सब हुए हैं। इसलिए तो जो भी आकर रोता है, उसी का उद्धार करना पड़ता है। उन्हीं की चीज से उन्हीं का उद्धार करती हूँ।"

फिर कहने लगीं – "ये लोग सोने को कहते हैं। नींद क्या बची है, क्या आती है? मन में आता है जितनी देर सोऊँगी, उतनी देर जप करने से जीवों का कल्याण होगा। कभी-कभी लगता है, यह शरीर छोटा-सा न होकर बहुत बड़ा होता, तो कितने ही जीवों का कल्याण होता !"

फिर बोली – "एक बड़ी चींटी जा रही थी – राधू उसे मारने चली – जानते हो मैंने क्या देखा? देखा कि वह चींटी नहीं है – ठाकुर है – ठाकुर के वे ही हाथ, पाँव, मुख, आँख, सब वही। राधी को रोका – सोचा, सचमुच सभी जीव ठाकुर के ही तो हैं ! मैं भला कितना कर पा रही हूँ – कितने लोगों को देख पा रही हूँ? उन्होंने सबका भार मुझे सौंपा है। सभी को देख पाती, तभी तो होता।"

मन्दिर में शंख-घण्टे बज उठे। माँ स्वचालित की भाँति उठकर बोलीं – "संध्या हो गयी। जाऊँ ठाकुर को संध्या अर्पित करूँ। कितना कुछ कह गई।" मैं बोला – "माँ, आज की बातें सुनने की चीज थी।" उन्होंने हँसते-हँसते पूछा – "लिखकर रखते हो क्या?" मैंने कहा – "हाँ, माँ। आप जब जयरामबाटी में रहती हैं और मैं कलकत्ते में रहता हूँ तब समय मिलते ही उन्हें उलटता-पलटता हूँ।" माँ हँसने लगीं। उन्हें जाने को उद्यत देखकर मैंने प्रणाम किया। माँ ने आशीर्वाद दिया और जाते-जाते हँसकर कह गयीं – "माँ और बेटा, माँ और बेटा !" कचहरी-भवन की ओर लौटा। कानों में गूँजता रहा – "माँ और बेटा, माँ और बेटा !"

उस रात मैं चुपके-चुपके अपने कमरे में बैठकर डायरी लिख रहा था कि कृष्णलाल पीछे से चुपचाप आकर पूछने लगे कि मैं क्या लिख रहा हूँ? मैं उन्हें बताने वाला नहीं था और वे भी मुझे छोड़ने वाले नहीं थे। आखिरकार उनसे किसी को भी न बताने का वचन लेकर मैंने अपनी डायरी उन्हें दे दी। उसे बहुत देर तक देखने के बाद वे बोले – "भाई, तुमने तो अच्छा काम किया है !" ❖ **(क्रमशः)** ❖

❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑

पुरखों की थाती

कीटिका-संचितं धान्यं मक्षिका-संचितं मधु ।
कृपणेन संचिता लक्ष्मीः अपरैः परि-भुज्यते ।।

– कीड़ों द्वारा एकत्रित अन्न, मधुमक्खियों द्वारा संग्रहित मधु और कंजूस के द्वारा इकट्ठा किया हुआ धन – ये दूसरों के द्वारा ही उपभोग किये जाते हैं।

को न याति वशं लोके मुखे पिण्डेन पूरितः ।
मृदंगोऽपि मुख-लेपेन करोति मधुर-ध्वनिम् ।।

– अच्छी तरह खिलाने-पिलाने से भला कौन वश में नहीं आ जाता। मुख पर आटे का लेप करने पर मृदंग तक मधुर आवाज निकालता है।

कुर्वन्नपि व्यलीकानि यः प्रियः प्रिय एव सः ।
अशेष-दोष-दुष्टोऽपि कायः कस्य न वल्लभः ।।

– जैसे असंख्य दोषों से दूषित होकर भी अपना शरीर सबको प्रिय ही लगता है, वैसे ही अपना प्रिय व्यक्ति चाहे जितना दुष्कर्म करे, वह अच्छा ही लगता है।

कविः करोति पद्यानि लालयत्युत्तमो जनः ।
तरुः प्रसूते पुष्पाणि मरुद्-वहति सौरभम् ।।

– कवि काव्य की रचना करता है और उत्तम व्यक्ति उसका प्रसार करता है, वैसे ही वृक्ष फूलों को पैदा करते हैं, परन्तु वायु उसकी सुरभि को फैलाती है।

मणिपुरी नट-कीर्तन

डॉ. महात्मा सिंह, डी. लिट्. इम्फाल पश्चिम, मणिपुर

कला का मूल उत्स मानव की उच्च आध्यात्मिक चेतना है। इसी चेतना का स्फुरण कला की विभिन्न विधाओं के रूप में होता है, कभी यह स्थापत्य और चित्रकला के माध्यम से व्यक्त होती है और कभी नृत्य, संगीत या काव्य के माध्यम से। अजन्ता, एलोरा के भित्ति-चित्र, मध्ययुगीन रोम के विशाल गिरजाघर, मिस्र के पिरामिड और दक्षिण भारत के कलापूर्ण मन्दिरों के स्थापत्य इसी तथ्य को प्रमाणित करते हैं। फिर रामलीला, रासलीला से लेकर विभिन्न आदिवासियों के लोक-नृत्यों से भी इसी बात के संकेत मिलते हैं। सदा से ही भारतीय मानस आध्यात्मिक अनुभूतियों के लिए उर्वर रहा है और इसी उर्वरता के फलस्वरूप भारत विश्व के समक्ष मूर्ति, स्थापत्य, काव्य और संगीत, नृत्य आदि कलाओं के क्षेत्र में नये प्रतिमान स्थापित करने में सक्षम भी हुआ है। नृत्य-संगीत-प्रिय मणिपुरी जनता ने संगीत और नृत्य को ही अपनी उच्च आध्यात्मिक अनुभूतियों और धार्मिक भावनाओं का मुख्य संवाहक बनाया।

आदि युग से ही 'संकीर्तन या कीर्तन' भक्तों के बीच 'नवधा भक्ति' में सर्वाधिक प्रिय और आकर्षक विधि रहा है। 'नारद-संहिता' में कीर्तन या भगवान के गुणगान की महत्ता को स्वयं भगवान के मुख से प्रतिपादित कराया गया है। भगवान नारद से कहते हैं – ''हे नारद, मैं न तो स्वर्ग में रहता हूँ और न योगियों के हृदय में, मेरा निवास तो वहीं होता है, जहाँ मेरे भक्त प्रेमी कीर्तन गाते हैं।''

ऐसा लगता है कि मणिपुरी वैष्णव-भक्तों ने भगवान के लीला-गान की महत्ता को सही रूप में स्वीकार करके इसको अपने जीवन का एक अविभाज्य अंग बना लिया है।

मणिपुर का नट-कीर्तन अपने आप में एक महायज्ञ है, अर्चना और भक्ति की एक नृत्य-संगीतमयी विधि है। यहाँ भक्तों को कीर्तन करते देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह श्रद्धानत भक्तों के भावभीने विह्वल हृदय का सहज उद्गार मात्र ही नहीं, अपितु संगीत और नृत्य के क्षेत्र में यहाँ के जन-मानस की अप्रतिम प्रतिभा और रुझान का परिचायक भी है। संकीर्तन यहाँ के जन-जीवन से इस तरह अनुस्यूत है, यहाँ के समाजिक जीवन का ऐसा अपरिहार्य अंग है कि लगता है मानो एक समान्य मणिपुरी वैष्णव का सम्पूर्ण जीवन-चक्र संकीर्तन की पवित्र परिधि में घूमकर ही अपनी पूर्णता को प्राप्त करता है। बच्चे के जन्म के छठें दिन 'षष्ठी -पूजा' से जो यह चक्र प्रारम्भ होता है, वह अन्न-प्राशन, कर्ण-वेधन, यज्ञोपवीत, विवाह और मृत्यु तक ही जाकर समाप्त नहीं होता, बल्कि उसके बाद भी अस्थि-संचय, श्राद्ध और वार्षिक अनुष्ठानों तक चला जाता है। सभी अवसरों पर एक मणिपुरी वैष्णव के आँगन में संकीर्तन की धुन हवा की लहरों में लहराती है, कभी खुशी और उल्लास के आह्लादक स्वरों में और कभी विषाद-वियोग और निर्वेद के करुण स्वरों में। मणिपुर 'संकीर्तन' भक्तों की विह्वल आत्मा की अपनी परम आराध्य राधाकृष्ण के लिए कातर-करुण पुकार है, उस परम-पुरुष के श्री चरणों तक पहुँचने के लिए स्वर्गीय सीढ़ियाँ हैं और मणिपुरी नृत्य-वाद्य और संगीत-कला की एक अनूठी रचना भी है।

यहाँ के रासलीला-नृत्य की ही तरह यहाँ का संकीर्तन भी अपने आप में एक पूर्ण कला है। जब वैष्णा-भक्तों के हृदय का सामूहिक भक्ति-उद्गार संगीत के ताल-स्वरों में आबद्ध और नृत्य की भंगिमाओं-मुद्राओं में तिरोहित होकर भगवान श्री कृष्ण और राधारानी के यशोगान के रूप में प्रकट होता है, तब झाल और मृदंगों की उन्माद ध्वनियों से मण्डलों का सम्पूर्ण वातावरण भक्तिमय संगीत और नृत्य के स्वप्निल झूले में झूलने लगता है।

ऐसे तो मणिपुर में संकीर्तन का विकास और प्रचलन तो एक धार्मिक कृत्य और भक्ति-विधि के रूप में ही हुआ, पर यहाँ के नृत्य-संगीतमय लोगों ने इसमें संगीतात्मकता और नृत्यशीलता का संयोग कर इसे एक स्वतंत्र कला-विधा का रूप दे दिया। यहाँ इसका उल्लेख कर देना असंगत न होगा कि जिस प्रकार मणिपुर में वैष्णव भक्ति का प्रचार-प्रसार बंगाल के वैष्णव भक्तों (चैतन्य महाप्रभु के शिष्यों) द्वारा हुआ, उसी प्रकार यहाँ के संकीर्तन पर भी बँगला कीर्तन का ही प्रभाव पड़ा। इस कीर्तन में जयदेव, चण्डीदास, विद्यापति तथा गोविन्दराम आदि वैष्णव भक्त-कवियों के पदों के साथ मितै भाषा (मणिपुरी भाषा) के भी भक्ति-गीत गाये जाते हैं, जो अपनी संगीतात्मकता और माधुर्य में अप्रितम हैं।

लेकिन इस 'संकीर्तन' में पराम्परा से चले आ रहे लोक-नृत्य का कलात्मक संयोग कर मणिपुरियों ने इसकी प्रेषणीयता और कलात्मकता में चार चाँद लगा दिया है और लोक-नृत्य के इस अपूर्व संयोग के कारण ही मणिपुरी संकीर्तन बंगाल या अन्य स्थानों में गाये जानेवाले संकीर्तन से भिन्न तथा विशिष्ट भी हो गया है। ये लोक-नृत्य हैं – 'करतार-चोलम' और 'पुंग-चोलम'। वास्तव में 'करतार-चोलम' (झाल बजाते हुए समूह नृत्य) और पुंग-चोलम (मृदंगवादकों का समूह नृत्य) एक प्रकार के वाद्ययुक्त समूह नृत्य हैं। वे दोनों अपने

आप में दो स्वतंत्र वाद्यपूर्ण नृत्य विद्याएँ हैं, जिनके कोड और तकनीक भी अलग-अलग हैं। 'करताल-चोलम' में झाल बजाते हुए नर्तकों की मण्डली नृत्य की विभिन्न मुद्राओं और भंगिमाओं का प्रदर्शन करती है और साथ-ही-साथ कीर्तन भी गाती है। 'पुंग (मृदंग) -चोलम' में भी वैसा ही होता है, पर दोनों में एक अन्तर है कि 'करताल-चोलम' में मृदंग-वादक भी साथ देते हैं जबकि 'पुंग-चोलम' में करताल वादक नहीं रहते। इन दो स्वतंत्र वाद्य-नृत्यों को जिस खूबी के साथ यहाँ के कलाकारों ने संकीर्तन के साथ गूँथ दिया है, वह इनकी मौलिक प्रतिभा की देन ही कही जायेगी। मणिपुरी 'संकीर्तन' की भी यहाँ के प्रसिद्ध नृत्य 'रासलीला' और 'लाइहरा-ओबा' की भाँति अपनी एक अलग संहिता (कोड) है और उन पूर्व निर्धारित विधि-विधानों का पालन करना संकीर्तन के प्रत्येक कलाकार के लिए नितान्त आवश्यक है। इसीलिए 'करताल-चोलम' और 'पुंग-चोलम' की किसी गुरु से विधिवत शिक्षा या प्रशिक्षण लिये बिना कोई इनमें भाग नहीं ले सकता। संकीर्तन के नृत्य, गीत, रचना, संगीत की ताल-लय और कलाकारों के परिधान भी पूर्व निर्धारित हैं और उनको अपने मौलिक रूप में ही प्रस्तुत किया जाता है। 'करताल-चोलम' के कलाकार सफेद धोती, कुरता और पगड़ी धारण करते हैं। 'पुंग-चोलम' के कलाकारों का पहनावा भी बिल्कुल यही होता है, पर इनकी पगड़ियाँ करतार-चोलमवालों से आकार में कुछ छोटी होती हैं।

'करताल-चोलम' में वादक-नर्तकों का दल हाथ में झाल लेकर सर्वप्रथम 'स्थानक' की निर्धारित मुद्रा में वृत्ताकार खड़ा होता है और मृदंग पर पहली थाप पड़ते ही अपने झालों को एक निश्चित ताल में बजाते हुए निर्धारित घेरे में ताल और लय के अनुसार अपने पैरों को गतिशील बना देते हैं। इसको 'करताल-मरोल' कहते हैं। मृदंग की थाप और गाये जानेवाले भक्ति-गीत की ताल-लय के साथ झालों की झंकार भी उतार -चढ़ाव में घटती-बढ़ती चलती है। कभी अत्यन्त धीरे-धीरे, मानो किसी पहाड़ी गुफा के अन्दर लाखों-लाख मधुमक्खियाँ अपने छत्ते के आसपास गुजर रही हों और कभी इतने तीव्र घोष के साथ कि लगता है आकाश में बादल गरजने लगे हैं या सैकड़ों हाथी घण्टा बजाते मस्ती में झूमते चले आ रहे हों। झाल या मृदंगवाले नर्तकों के नृत्यशील चरणों की गति और मुद्राओं को झाल, मृंदग और गीत की ताल-लय नियंत्रित करती है। मृदंग और झालों की सम्मिलित ध्वनि कभी तो बसन्त की तंद्रिल वायु की तरह मन्द-मन्द मधुर होती है और कभी तीव्रगामी झंझावात या मेघ-गर्जन सा रौद्र और भयानक। वादक नर्तक कभी गज-गति से झूमते हुए चलते हैं और कभी हंस, मराल या मोर की तरह ठमक-ठमक कर मचलते-इठलाते हुए।

'करताल-चोलम' और 'पुंग-चोलम' – दोनों में ही वादक-नर्तकों के अंग-प्रत्यंग और उपांगो की अलग-अलग क्रियाएँ, स्थितियाँ, गति-भंगिमाओं और स्थानों का निर्देश होता है। जैसे 'स्थानक' की स्थिति में जब वादक-नर्तक खड़ा होता है, तो उसकी दोनों एड़ियों के बीच तीन अंगुल का फासला होता है और दोनों पैरों के अंगूठे समकोण के कर्ण की स्थिति में होते हैं। इसी तरह मृदंग-चोलम में भी मृदंग बजाते हुए नर्तकों का समूह तालों और लयों के अनुसार सिर, ग्रीवा, कन्धे, कमर, बाहु, घुटने और पैरों की अलग-अलग मुद्राएँ और भंगिमाएँ प्रदर्शित करते हैं और ये सब नृत्य-शास्त्र से अनुमोदित मुद्राएँ और भंगिमाएँ होती हैं। 'स्वस्तिका-पद-चोलम' में मृंदग-वादक के दोनों पैर गुणा के चिह्न की तरह एक-दूसरे को काटते हैं और इसी भंगिमा में मृदंग बजाते हुए वह आगे बढ़ता और पीछे हटता है।

'पुंग-चोलम' (मृदंग-नृत्य) कला की बारीकियों, तकनीकों, गतिशीलता और आकर्षण की दृष्टि से 'करताल-चोलम' से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण और समृद्ध है। यह मणिपुरी समूह नृत्य-वाद्य-कला की अद्भुत देन है। इस नृत्य में भी वादक-नर्तकों के खड़े होने और घूमने की भंगिमाएँ लगभग 'करताल-चोलम' जैसी होती हैं, पर इसमें नर्तकों को अंग-संचालन और नृत्य-मुद्राएँ दिखाने की अधिक स्वच्छन्दता होती है। दर्जनों मृदंग-वादक (इनकी संख्या ४५-४६ तक भी होती है) एक साथ ही बगुले के पंखों-सी धपा-धप उजली धोती, कुर्ता, चादर व पगड़ी धारण किये वृत्ताकार या अर्द्ध वृत्ताकार घेरे में खड़े होकर जब विभिन्न मुद्राओं और भंगिमाओं के साथ भक्ति गीत के ताल-लय पर मृंदग बजाते हुए नृत्यशील होते है, तब दर्शक कुछ क्षणों के लिए किसी अपार्थिव मोहक वातावरण में पहुँचकर कर खो-से जाते हैं। कभी तो वे एक पैर पर दूसरा रखकर एक ही पैर से चलते हुए मृदंग बजाते हैं, तो कभी मृदंग को हवा मे उछालकर भूमि पर रखकर, स्वयं झुककर घुटने के बल चलते हुए, उछलते हुए या तेजी से वृत्ताकार चक्कर लगाते हुए मृदंग वादन करते हैं। मृदंग जैसे स्थूल वाद्य यंत्र से (सूक्ष्माति-सूक्ष्म) सुरीली, कोमल और मधुर लयात्मक ध्वनि उत्पन्न करना, समान्यत: सरल काम नहीं है, पर मणिपुरी कलाकारों ने अपनी प्रतिभा और सूक्ष्म कलात्मक संवेदना से मृदंग को भी वीणा और सितार की तरह अत्यन्त संवेदनशील वाद्य-यंत्र बना दिया है। तभी तो ये मृदंग से झुरमुट में चिड़ियों के चहचहाने, भौंरों के गुंजार, तीव्र मेघ-गर्जन, गज-चिघाड़ और प्रबल तूफान के उद्दाम घोष जैसी मधुर-तीव्र ध्वनि की भी अनुकृति कर लेने में समर्थ हो पाते हैं। मृदंग ध्वनि की द्रुतता, मन्थरता, मधुरता या तीव्रता ही इन नर्तकों के नृत्य और शारीरिक गतिशीलता को नियंत्रित और समायोजित करती है।

'चोलम' शब्द की व्युत्पति 'चलनम्' से हुई है और यह ताण्डव के तीन प्रकारों में एक हैं, शेष दो प्रकार हैं 'गुंथनम्' और 'प्रसरणम्'। इसमें मानव देह के अंग-प्रत्यंग एवं उपांगों के संचालन की निर्धारित विधियों का पूर्णत: पालन किया जाता है। मृदंग-चोलम में स्थानक या नर्तक-वादकों के खड़े होने की अनेक स्थितियाँ या मुद्राएँ होती हैं, जैसे खौंगहों अवांगबां (घुटनों के थोड़ा मोड़कर खड़ा होना), खौंगहों अनेंबा (घुटनों को और थोड़ा मोड़ना) और खौंगहों चाइमा (घुटनों में काफी लोच देकर खड़ा होना)। करतार-चोलम में भी नर्तक ऐसी ही कई स्थितियों का पालन करते हैं। इसी तरह दोनों चोलम (पुंग और करतार) में सिर, ग्रीवा, स्कन्ध, बाहु, वक्ष, उरु, जानु और पदों के संचालन की विधि में भी सूक्ष्माति-सूक्ष्म भेद-उपभेद किये गये हैं और वादक-नर्तक किसी गुरु के चरणों में बैठकर इन नृत्य-मुद्राओं का प्रशिक्षण प्राप्त करने के बाद ही कीर्तन मण्डप में प्रवेश करते हैं।

'संकीर्तन-पाला' (संकीर्तन-मण्डली) सामान्यत: किसी मन्दिर या नृत्य-मण्डल में ही अपना कार्यक्रम प्रस्तुत करता है। एक मण्डली में करतार-वादक, मृदंग-वादक और गायकों को मिलाकर लगभग चार दर्जन तक कलाकार शामिल होते हैं। सर्वप्रथम दो मृदंग-वादक मण्डप के दाहिने और बायें मृदंग के साथ खड़े हो जाते हैं। मृदंग-वादक की बायीं ओर करताल-वादकों के दल का प्रधान अन्य नर्तकों को साथ लिये वृत्ताकार रूप में खड़ा होता है। अन्य वादक-नर्तक उनके सामने खड़े होकर वृत्त का पूरा कर देते हैं। 'चोलम' में पूरी मण्डली या मण्डली का प्रत्येक सदस्य वृत्त को यथावत कायम रखते हुए घड़ी के काँटों की तरह या उसके विपरीत क्रम में घूमता है।

मणिपुरी संकीर्तन के कई भेद हैं और एक प्रकार के संकीर्तन में कोई एक विशेष पाला (मण्डली) विशेष दक्षता प्राप्त करता है। इनमें 'अरीबा-पाला' (बंगदेश-पाला) और 'अनौबा-पाला' (नाट-पाला) प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त 'निपामचा -पाला' (युवक संकीर्तनियों की मण्डली), सिंगलुप-पाला, झाल-पाला, नाम-पाला एवं चैतन्य-सम्प्रदाय आदि पुरुषों की मण्डलियाँ हैं और 'रामेश्वरी-पाला' तथा 'नुपी-पाला' महिलाओं की मण्डलियाँ हैं। इन संकीर्तन मण्डलियों में शामिल होने के पूर्व किसी भी कलाकार को पुंग-चोलम और करताल चोलम का प्रशिक्षण लेना नितान्त आवश्यक है। आधुनिक मणिपुरी संकीर्तन यहाँ के परम्परागत समूह लोक-नृत्य का परिष्कृत और विकसित रूप हैं, जो जनता की धार्मिक भावना से जुड़कर लोक-जीवन का अभिन्न अंग बन गया है। ❑